विषयानुक्रमणिका

पहला सर्ग

दूसरा सर्ग

तीसरा सर्ग

चौथा सर्ग

पाँचवाँ सर्ग

छठा सर्ग

सातवाँ सर्ग

आठवाँ सर्ग

नवाँ सर्ग

दसवाँ सर्ग

ग्यारहवाँ सर्ग

बारहवाँ सर्ग

तेरहवाँ सर्ग

चौदहवाँ सर्ग

पंद्रहवाँ सर्ग

सोलहवाँ सर्ग

सत्रहवाँ सर्ग

शुद्धि-पत्र

(नोट. इसके अनुसार ग्रंथमे संशोधन करके इसको अलग कर दीजिए)

पृष्ठ संख्या	श्लोक-संख्या	पंक्ति-संख्या	शुद्ध
१३२	६१	१	स्पंदन ।
१६५	१०५	१	अविच्छिन्न ।
१७८	७	३	भेद ।
१९३	८३	१	त्रिसरेणु
२१८	६५	२	टिट्टिभ ।
२१८	७१	८	मदीय ।
२३३	१८	३	गभृत
२३९	८२	८	न मुक्ति है ।
२८६	८	४	विश्वेरता ।
२९८	५३	१२	धर्म ।
२३४	७६	८	ज्ञान
४११	३३	३	गेह ।
४१३	५९	२	कुमार ।
४३०	१०९	३	सरोजिनी-पुष्प ।
५०२	३८	२	प्रहारारव ।
५८१	२२५	३	('है' काट दीजिए)

आमुख

'सिद्धार्थ' महाकाव्यके यशस्वी कलाकार श्री प० अनूपशर्मा एम० ए०, एल० टी०, ने आज अपनी प्रतिभाकी चमत्कृत छैनीसे उन अद्वितीय जन-गण-मन अधिनायक भगवान् महावीरकी शान्त और सतेज प्रतिमा गढी है जिनकी मूर्तिके अभावमे माँ भारतीका मन्दिर शताब्दियोसे सूना-सूना लग रहा था। यह भारतीय ज्ञानपीठका सौभाग्य है कि उसे इस कलाकृतिको प्रकाशमे लाने और श्रुत-शारदाके मन्दिरमे प्रतिस्थापन करनेका गौरव मिल रहा है।

भगवान् महावीर जैनधर्मके उन्नायक अन्तिम (२४वे) तीर्थंकर थे। उनके ५ नाम थे, जो गुणाश्रित थे--वीर, अतिवीर, महावीर, सन्मति और वर्द्धमान। प्रस्तुत काव्यके शीर्षकके लिए 'वर्द्धमान' नाम ही उपयुक्त समझा गया, यद्यपि प्रारम्भमे कविने मूल पाडुलिपिका 'शीर्षक सिद्ध-शिला' दिया था और हमारे कई प्रकाशनोमे इस ग्रन्थकी योजना इसी नामसे घोषित की गई थी। 'सिद्ध-शिला' भगवान् महावीरकी जीवन-साधनाका चरम लक्ष्य---मोक्ष---का प्रतीक है, और 'सिद्धार्थ' के साथ लेखककी कृतियोका स्मृति-सरल युग्म बन जाता, पर कठिनाई यह थी कि 'सिद्ध-शिला' का शीर्षक साधारण पाठक को काव्य-विषयका सुबोध संकेत न दे पाता। दूसरी ओर, भगवान् महावीर का 'वर्द्धमान' नाम इतना प्रचलित है कि भगवानकी विहार और उपदेश-भूमिका एक खड बगालमे इस नामसे ही (वर्दवान=वर्द्धमान) प्रसिद्ध है।

'वर्द्धमान' के सम्बन्धमे मुख्य विचारणीय बात यह है कि यह ग्रन्थ न तो इतिहास है न जीवनी। यदि आप भगवान् महावीरकी जीवन-सम्बन्धी समस्त घटनाओका और तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक अथवा धार्मिक परिस्थितियो का क्रमवार इतिहास इस ग्रन्थमे खोजना चाहेगे तो निराश होना पड़ेगा। यह तो एक महाकाव्य है, जिसमे कविने भगवान्के जीवन और व्यक्तित्वको आधार-

फलक बनाकर कल्पनाकी तूलिका चलाई है। यहाँ इतिहास तो केवल डोर-की तरह है जो कल्पनाकी पतगको भावनाओके आकाशमे खुली छूट देनेके लिए प्रयुक्त है। उडानका कौशल देखनेके लिए दर्शककी दृष्टि पतग पर रहती है, डोर पर नही। हाँ, पतगके खिलाडीको उतनी डोर अवश्य सँभालनी पडती है जितनी उड़ानके लिए आवश्यक है।

महाकाव्यके कविके लिए जो एक बन्धन आवश्यक है, वह है साहित्यिक-परम्परा और पद्धतिका। दण्डीने अपने ग्रन्थ काव्यादर्शमे महाकाव्यके निम्नलिखित लक्षण बतलाये है —

> **"महाकाव्यकी कथावस्तु किसी प्राचीन इतिहास अथवा ऐतिहासिक वृत्तके आधारपर हो। नायक धीरोदात्त प्रकृतिका हो। महाकाव्य-में नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय, चन्द्रोदय, जलक्रीड़ा, विवाह, यात्रा, युद्ध आदिका वर्णन होना चाहिए। अति संक्षिप्त नहीं होना चाहिए। इसमें वीररस अथवा शृंगाररस प्रधान हो और दूसरे रस भी गौणरूपमें हो। सम्पूर्ण काव्य सर्गोमे विभक्त होना चाहिए। प्रतिसर्गमें एक ही वृत्तके छन्द हो, किन्तु सर्गके अन्तमें अन्य वृत्तके छन्द अवश्य हों" इत्यादि। (काव्यादर्श—१।१४।४९)**

महाकाव्यकी उपर्युक्त परम्पराका आधार सस्कृत साहित्य है। सस्कृतके लगभग सभी महाकाव्य इसी परिपाटीके आधार पर लिखे गये है अत उनके लिए विषय और आख्यान भी ऐसे ही चुने गये है जिनमे महाकाव्यकी कथा वस्तु के प्रसारकी और उपयुक्त सामग्री प्रदान करनेकी क्षमता हो। भगवान राम, आनन्दकन्द कृष्ण और महात्मा बुद्धके जीवन-आख्यानोको कवियोने अनुश्रुति और प्रतिभाके वल पर इस प्रकार विकसित कर लिया कि ईस्वी पूर्व चौथी और पाँचवी शताब्दीमे 'रामायण' तथा 'महाभारत' और तीसरी शताब्दी, (ईस्वी उत्तर) मे अश्वघोष द्वारा 'बुद्ध-चरित' नामक महाकाव्योकी रचना हुई। क्या कारण है कि भगवान् महावीरके जीवनवृत्तके आधारपर शताब्दियो वाद तक भी कोई सागोपाँग महाकाव्य न लिखा जा सका? हिन्दी साहित्यमे भी

जहाँ सूर और तुलसीके समयसे लेकर आधुनिक युग तक 'रामचरितमानस' 'सूर-सागर' 'बुद्ध-चरित' 'प्रिय-प्रवास', 'साकेत', 'यशोधरा' और 'सिद्धार्थ' लिखे गये वहाँ 'वर्द्धमान' के लिए हिन्दी साहित्यको इतनी लम्बी प्रतीक्षा करनी पडी। इसका मुख्य कारण यह है कि भगवान् महावीरकी जीवनी जिस रूपमे जैनागमोमे मिलती है उसमे ऐतिहासिक कथा भाग और मानवीय रागात्मक वृत्तियोका घात-प्रतिघात गौण है और भगवान्की साधना—मोक्ष-प्राप्तिकी प्रयत्न-कथा ही मुख्य है। महाकाव्यके लिए जिस शृगार अथवा वीर रसके परिपाक की आवश्यकता है उनका ऐतिहासिक कथा-सूत्र या तो मूलरूपसे है ही नही या किन्ही अगोमे यदि घटित भी हुआ हो तो उपलब्ध नही।

उदाहरणके लिए, दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीरने विवाह नही किया और कुमारावस्थामे ही वैराग्य ले लिया। ब्रह्मचर्यके इस अखड तेज-मे उत्कट बल और विजय तो है, पर शृगारके रस-विलासकी भूमिका नही। महाकाव्यमे घटनाओ और भावनाओके सघातके लिए जिस प्रतिद्वदी और प्रति-नायककी आवश्यकता है वह भी नही। फिर जल-क्रीडा, उद्यान-विहार, विवाह, यात्रा, युद्ध और विजय-प्राप्तिके मानवीय चित्रणो द्वारा रसोकी आयोजना-उत्पत्ति हो तो कैसे? जैनाचार्योने प्राकृत और सस्कृतमे जब कुमारावस्थामे वैराग्य प्राप्त करने वाले तीर्थंकरो और महापुरुषोकी जीवनी लिखी तो शृगार-सर्जना के लिए उन्हे मुक्तिको स्त्री और नायिका तथा काम या मारको प्रतिद्वदी बना कर शृगार और वीर रसके उपादान जुटाने पडे। इससे रीतिकी तो रक्षा हुई, शब्द और अर्थका चमत्कार भी उत्पन्न हुआ, पर पाठककी अनुभूतिको उकसा कर हृदयको भिगोने और गलाने वाला रस कदाचित् ही उत्पन्न हुआ।

इस कठिन पृष्ठभूमि पर महाकवि अनूपने 'वर्द्धमान' काव्य लिखा है। काव्यमे १७ सर्ग है और कुल मिलाकर १९९७ चतुष्पद (छद) है। इस प्रकार ग्रन्थको महाकाव्यका पूरा विस्तार प्राप्त है। इसे हरिऔधजीके 'प्रियप्रवास' और कविकी अपनी कृति 'सिद्धार्थ' के अनुरूप सस्कृत-बहुल भाषा और सस्कृत वृत्तोमें लिखा गया है। प्राय समूचा काव्य वशस्थ वृत्तमे है। केवल घटनामे

तोड देनेके लिए कही-कही मालिनी और द्रुतविलम्बित छन्दका उपयोग किया गया है। ग्रन्थका उपसहार शिखरिणीसे किया गया है। विषय–क्रमसे सर्गोंका विभाजन मोटे रूपसे इस प्रकार है —

वर्णन और प्रकृति-चित्र—प्राय सब सर्गोंमे, किन्तु विशेष कर

पहला, तीसरा, सातवाँ, आठवाँ, दसवाँ, और ग्यारहवाँ सर्ग।

कथा-भाग—

चौथा, आठवाँ, नौवाँ, बारहवाँ, चौदहवाँ, पद्रहवाँ, सोलहवाँ और सत्रहवाँ सर्ग।

प्रेम शृंगार और मनोरजनात्मक—

दूसरा, पाँचवाँ और छठा सर्ग।

वैराग्य और उपदेशात्मक—

दसवाँ, ग्यारहवाँ, तेरहवाँ और सत्रहवाँ सर्ग।

महाकाव्योके अनुरूप 'वर्द्धमान' मे वर्णन-सौदर्य, पद-लालित्य, अर्थ-गाम्भीर्य, रस-निर्झर और काव्य-कौशल सभी कुछ है। पद-पद पर रूपको, उपमाओ और अन्य अलकारोकी छटा दर्शनीय है। इतना श्रम-साध्य कौशल होने पर भी सगति और प्रवाहकी रक्षाका प्रयत्न है। सारा काव्य भगवान् महावीरके पिता राजा सिद्धार्थकी राज-सभाकी तरह साक्षात् सरस्वतीका प्रतीक है —

"सुवर्ण-वर्णा, ललिता, मनोहरा
सभा लसी यों पद-न्यास-शालिनी।
विरंचि-सिद्धार्थ-युता लखी गई
शरीरिणी ज्यो अपरा सरस्वती॥"

(पृष्ठ ४३, छद ३३)

भगवान्की माता, रानी त्रिशलाके वर्णनमे कविने उपमाओकी मनोहारिणी लडी पिरोई है। त्रिशला कल्प–वल्लरी है —

"सुपुष्पिता दन्त-प्रभा-प्रभावसे
नृपालिका पल्लविता सुपाणिसे।

सुकेशिनी मेचक¹-भृंग-यूथसे
²अनल्पथी शोभित कल्पवल्लरी ॥

(५०।५९)

इन्ही त्रिशलाके वर्णनमे तरंगिनी (नदी) का रूपक देखिए —

"सरोज-सा वक्त्र, सु-नेत्र मीन-से
सिवार-से केश, सुकंठ कंबु-सा।
उरोज ज्यो कोक, सुनाभि भौंर-सी
तरंगिता थी त्रिशला-तरंगिणी ॥

(५५।८१)

कविकी कल्पनाका कौशल देखिए कि त्रिशलाकी उँगलीको साक्षात् महा-भारतकी कथा बना दिया —

"नलोपमा,¹ अक्षवती,² स-ऊर्म्मिका³
मनोहरा, सुन्दर-पर्व-⁴संकुला।
नरेन्द्र-जाया-कर-अंगुली लसी
कथा महाभारतके समान ही॥

(६०।१०२)

त्रिशलाकी वाणीकी मिठास सुन कर कोयल और वीणा, दोनोका मान खंडित हो गया। एक वन-वनमें रोती फिर रही है और दूसरी धराशायी हो गई —

---

¹नीले; ²अत्यन्त,

महाभारतके पक्षमें	—	त्रिशलाके पक्षमें
¹राजा नलकी चर्चा	—	वृन्त-नालके समान
²पासे वाली	—	चिह्न वाली
³तरंग (परिच्छेद)	—	रेखा-तरंग
⁴खंड	—	पोर।

"सुनी सुधा-मंडित-माधुरी-धुरी
जभी सुवाणी त्रिशला मुखाब्जसे
पिकी कुहू-रोदनमें रता हुई
प्रलंब भूमें परिवादिनी[1] हुई।"
(६।१०५)

राजा सिद्धार्थकी प्रशसामे नीचे लिखी व्याजोक्ति देखिए। जो लोग सिद्धार्थको सब कुछ देने वाला (सर्वंद) मानते थे, उन्हे यह देखकर निराश होना पडा कि सिद्धार्थने कभी भी अरिको पीठ और परनारिको वक्ष दान नही दिया। सिद्धार्थ सर्वजाता भी नही थे क्योकि उन्होने यह कभी जाना ही नही कि नकार (नही) क्या होता है —

"परन्तु जो सर्वद सर्वदा उन्हे
विचारते थे, वह यों निराश थे।
न पीठ पाई अरि-वृन्दने कभी
न वक्ष देखा पर-नारिने तथा॥
तथैव सर्वज्ञ न भूमिपाल थे
न जानते थे इतना कदापि वे।
नकार होती किस भांतिकी, अहो॥
अनाथको, आश्रितको अभागको।
(४४।३६–३७)

अलकार निदर्शनके लिए शब्दावृत्ति, अर्थावृत्ति और अनुप्रास आदिका यथोचित उपयोग किया गया है —

"भयन्द हेमन्त जलेव भूपकी
सुदीर्घ हेमन्त निशेव आयु थी।

---

[1]वीणा

सुसह्य हेमन्त रवीव पार्थके
विनष्ट हेमन्त नलेव शत्रु थे ।।
(४५।४३)

"तड़ाग थे, स्वच्छ तड़ाग हो यथा
सरोज थे, फुल्ल सरोज हों यथा।
शशांक था, मंजु शशाक हो यथा
प्रसन्नता पूर्ण शरत्स्वभाव था ।।
(१४०।४)

"अधौत वस्त्रा, अमिता अशंसिता
अशौच-देहा, अभगा, अमानिता ।
अदर्शनीया, अनलंकृता अ-भा
अभागिनी थी अवला अमानुषी ।।"
(चन्दनाका वर्णन—४८६।१८९)

नि सन्देह इस प्रकारके अलकार सस्कृत साहित्यमे अन्यत्र भी पुन-पुन आये है और खोजनेसे अलकार साम्य दिखाया जा सकता है पर इस प्रकार देखे तो कालिदास, भवभूति, भारवि और माघ, तथा गुणाढच, विमल, हरिषेण, जिनसेन और धनजय आदिके वाद तो कोई उपमा और अलकार अछूते नही वचते ? और वाणके विषयमे तो यहाँ तक कह दिया गया है कि—"वाणोच्छिष्ट जगत्सर्वम् " ।

परम्परागत अलकार कौशलके अतिरिक्त कविवर अनूपने 'वर्द्धमान' काव्य मे अपनी भावमयी कल्पनासे सुषमाके अनेक नये सुमन उपजाये है। कही-कही शब्दोकी कल्पनामे अर्थ और मृदुताका इतना विस्तार भरा है कि परिभाषाएँ और कल्पनाएँ काव्यमय हो गई है।

त्रिशला स्वप्न देख रही है। स्वप्नकी परिभाषा और स्वप्नका ससार किस तरह सजीव और सजग हो गया —

"निशीथके वालक, स्वप्न नामके,
प्रबुद्ध होके त्रिशला-हृदब्जमें ।
मिलिन्दसे गुंजन-शील हो गए"
(१०५।१७)

"उगा नही चन्द्र, समूढ़ प्रेम है
न चॉदनी, केवल प्रेम-भावना ।
न ऋक्ष[1] है, उज्ज्वल प्रेम-पात्र है
अतः हुआ स्नेह-प्रचार विश्वमें ।।"
(१४।६३१)

और यह ऑसू है —

"वियोगकी है यह मौन भारती
दृगम्बु-धारा कहते जिसे सभी ।
असीम स्नेहाम्बुधिकी प्रकाशिनी
समा सकी जो न सशब्द वक्षमें"
(४२१।७२)

'वर्द्धमान' में शृगार और प्रेमका वर्णन राज-दम्पत्ति सिद्धार्थ और त्रिशला के प्रौढ गार्हस्थिक स्नेह पर अवलम्बित है । शृगार-रसकी सहज उत्पत्ति और विकासके जो उपादान है और नायक-नायिकाके युवकोचित विभ्रम-विलास-के चित्रणके लिए कविको जो चित्र-पट प्राप्त होना चाहिए वह यहाँ नही है । इस लिए इस शृगारका सन्तुलन कठिन हो गया है । पर कविने इसे निभानेका प्रयत्न किया है । पाँचवे सर्गमे प्रेमकी गरिमा और महिमा सिद्धार्थ और त्रिशलाके स्नेह-सवादके रूपमे दिखाई गई है । दार्शनिकताके बीचमे जहाँ कही मानवीय प्राणोकी भावधारा उमडती है वहाँ स्थल अधिक सरस और सजीव हो जाते है । —सिद्धार्थ कहते है —

---

[1] तारे

"'वहित्र-सा जीवन मध्य-रात्रिके
पड़ा रहा चंद्र-विहीन सिंधुमें।
मिला न दिग्सूचक-यंत्र सा जभी
प्रिये! तुम्हारा कर, मैं दुखी रहा।"
(१६०–८४)

और त्रिशलाकी भाव-प्रतिध्वनि सुनाई पडती है :—

"प्रकाशसे शून्य अपार व्योममें
उड़ी, बनी आश्रित-एक-पक्ष' में।
मिला नहीं, नाथ! द्वितीय पक्ष-सा
जभी तुम्हारा कर मैं दुखी रही"
(१६०।८५)

उस सवादका धरातल इतना ऊँचा उठाया गया है कि एक स्थान पर यह अत्यन्त आध्यात्मिक हो गया है —

"प्रभो! मुझे हो किस भाति चाहते?"
"यथैव निःश्रेयस चाहते सुखी।"
"प्रिये! मुझे हो किस भाति चाहती?"
"यथैव साध्वी पद पार्श्वनाथके॥"
(१५८।७६)

उस स्थान पर पहुँच कर सहसा ध्यान आता है कि यहाँ पाँचवे सर्गमे जो राज-दम्पति इतने ऊँचे उठकर प्रेमवार्तालाप कर रहे हैं दूसरे सर्गमे भी तो यही दम्पति है जो भगवान्के जनक और जननी बनने वाले हैं। लगता है जैसे कवि-ने दूसरे सर्ग मे इन्हे केवल राज-दम्पतिके रूपमें ही मान कर रानी त्रिशलाके नख-शिखका वर्णन किया है। यह यद्यपि मात्रामे कम है और काव्य परम्परा-

---

'नाव, 'पख।

के अनुकूल है, किन्तु कही-कही इस लिए नही खपता कि त्रिशला काव्यकी नायिका न होकर भगवान्‌की माता है। सम्भवतया कविके सामने शृगार चित्रण-के लिए बहुत ही सीमित फलक था। इतनेमे ही उसे सब कुछ कहना था और परम्पराको निभाना था। कविने फलककी सकीर्णताके दोषको रगोकी गहराई-मे ढँकना चाहा है और यही भक्त पाठकके मनमे विभ्रम और कही-कही जुगुप्सा उत्पन्न हो जाती है। ऐसे पाठकका विचार है कि उरोज, नितम्ब और जघन-स्थलीका एकसे अधिक वार उल्लेख न होता तो भी काम चल सकता था। इसके उत्तरमे यही कहा जायेगा कि काव्यमे जो वर्णन परम्परासे मान्य है और शृगारके प्रसगमे अशोभन नही उसे छोड़नेके लिए कवि बाध्य नही। दूसरी वात यह भी है कि त्रिशलाका नख-शिख वर्णन राजाकी प्रेयसीके रूपमे किया जा रहा है। सिद्धार्थका मन-भृङ्ग सौन्दर्य-वल्लरीके जिन सरस दलो और विकच-कुसुमोके प्रति लुब्ध है, उनका रागात्मक वर्णन उन्हीके दृष्टि-कोणसे किया गया है। तीसरे यह कि दूसरे सर्गका पार्थिव शृगार यदि पाँचवे सर्गमे अपार्थिव और आध्यात्मिक हो गया है तो यह कविकी सफल कल्पनाका प्रतीक है।

जैसा कि होना चाहिए, 'वर्द्धमान' काव्य प्रधानत भक्ति और वैराग्यका काव्य है। महावीर कुमारावस्थासे ही दयार्द्रमन और चिन्तनशील है। आठ वर्षकी अवस्थामे ही वह अपने सखाओको सम्बोधित करते है —

"सखे ! विलोको वह दूर सामने
प्रचण्ड दावा जलता अरण्यमे।
चलो, वहाँके खग जीव जन्तुको
सहायता दें, यदि हो सके, अभी ॥"
मनुष्य, पक्षी, कृमि, जीव, जन्तुकी
सदैव रक्षा करना स्वधर्म है।
अतः चलो काननमें विलोक लें
कि कौनसी व्याधि प्रवर्द्धमान है ॥"

उसी आयुमें कुमार वर्द्धमान ऋजुबालिका नदीके तट पर पहुचते :—

"नितान्त एकान्त-निवास-सस्पृही
कुमारको थी सरि मोद-दायिनी ।
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवनका रहस्य थे ॥"

सोलह वर्षकी अवस्था तक पहुंचते-पहुँचते उनकी वैराग्य-भावना और भी प्रबल हो गई और प्रकृतिके साहचर्यसे प्रभावित होकर वह सोचने लगे :—

"मनुष्यका जीवन है वसन्त-सा
हिमर्तु प्रारम्भ, निदाघ अन्तमें ।
जहाँ सदा भाव प्रसून फूलते
विचारके भी फलते प्रतान है ॥"
"लिया जभी जन्म; तुरन्त रो उठे
विलोक पृथ्वी हँसने लगे तथा।
मुहूर्त जागे, क्षण-एक सो, उठे,
सुदीर्घ सोये, तब जागना कहाँ ?"

तेरहवे सर्गमे वैराग्य-दायिनी बारह भावनाओका विस्तारसे वर्णन है। केवलज्ञान प्राप्त होने पर भगवान्ने जो उपदेश दिये है, कविने उनमे आचारकी पवित्रता, गुणोकी प्राप्ति और दोषोके त्यागकी प्रधानता दिखाई है। प्रारम्भसे अन्ततक कविका दृष्टिकोण यही रहा है कि 'वर्द्धमान' काव्य 'सर्वसाधारणके लिए पाठ्य' हो और इसके उपदेश जीवनोपयोगी हो । यही कारण है कि इस ग्रथमे भगवान्के दिव्य जीवनकी तो झाँकी मिलती है किन्तु वर्द्धमान द्वारा प्रतिपादित वह दर्शन और तत्त्व-विवेचन जो विश्वके दार्शनिक इतिहासमे मौलिक और अद्वितीय है, अछूता रह गया है।

"जिनेन्द्र बोले वह धर्म-वाक्य जो
कि सर्वसाधारण बोधगम्य थे ।

गृहस्थके साधु-समाजके सभी
बता चले धर्म तथैव कर्म भी॥"
(५६२–१४९)

वैशाली के प्रमुख गण-तन्त्र की परम्पराओमे पले तथा सामान्य मानव-समाजके हित और उद्धारकी भावनाओसे पूरित-हृदय भगवान्‌के उपदेश सर्वसाधारणके बोधगम्य होने ही चाहिए थे। उनकी शैली, वाणी-माधुर्य और भाषाकी यही विशेषता थी।

श्री अनूप शर्माने इस ग्रथकी रचनामे भगवान्‌के जिस ऐतिहासिक जीवन वृत्तको आधार बनाया है, उसकी रूप-रेखा उन्होने अपने वक्तव्यमे दी है। महावीरकी जीवनी जैनधर्मकी दो सम्प्रदायो—दिगम्बर और श्वेताम्बर—मे भिन्न-भिन्न रूपसे मिलती है। जीवन-वृत्तकी जिन ऐतिहासिक मान्यताओमे दोनो सम्प्रदायोमे अन्तर है उनमे से मुख्य-मुख्य इस प्रकार है।

१ माता—दिगम्बर मान्यताके अनुसार भगवान् महावीरकी माता त्रिशला वैशालीके हैहय वशीय, जैनधर्मानुयायी क्षत्रिय राजा चेटककी पुत्री थी। श्वेताम्बर मान्यतानुसार त्रिशला चेटककी बहिन थी।

२ गर्भावतरण—दिगम्बर मान्यतानुसार भगवान् महावीर आषाढ शुक्ला षष्ठीके दिन रानी त्रिशलाके गर्भमें अवतीर्ण हुए और उन्हीकी कुक्षिसे जन्म हुआ। श्वेताम्बर आगमोकी मान्यता है कि भगवान् महावीर प्राणत स्वर्ग-से च्युत हो कर ब्राह्मणकुडपुरमे ऋषभदत्त नामक जैनधर्मानुयायी ब्राह्मण-नायक-की पत्नी देवनन्दाके गर्भमें आषाढ़ शुक्ला षष्ठीको आए और ८३ दिन बाद सौधर्मेन्द्रकी इच्छानुसार हिरणैगमेष्टा देव द्वारा ब्राह्मण भार्या देवनन्दाके गर्भसे निकाल कर क्षत्रिय-भार्या त्रिशलाकी कोखमे लाये गये। बदलेमे त्रिशला की गर्भ-गत पुत्रीको देवनन्दाके गर्भमें लाया गया।

३ कुटुम्ब—दिगम्बर मान्यता है कि भगवान् महावीर राजा सिद्धार्थके एक-मात्र पुत्र थे। श्वेताम्बर मान्यता है कि राजा सिद्धार्थके दो पुत्र थे। भगवान् महा-वीरके बडे भाईका नाम नन्दिवर्द्धन था और उनकी भाभीका नाम प्रजावती था।

"प्रभो ! तुम्हारे प्रिय ज्येष्ठ भ्रातृको
अभीष्ट है कौतुक[1] आपका लखें"
(३४६-६)

भगवानने उत्तर दिया

"कहा किसी ज्योतिष-विज्ञने कभी
विवाह होगा मम तीस वर्षमें
तथा मिलेगी मुझको वधू कि जो
सुभाग्यसे ही मिलती मनुष्यको
(३४९-१८)

× ×

अखंड सौभाग्यवती कलत्रका
अवाप्त होना कुछ खेल है नही,
वही बली पा सकता उसे कि जो
खपे, मरे, और जिये अनेकधा।
सुना किसीसे वह दिव्य नायिका,
विराजती तेरह खंड धामपै।
अजस्र आरोहण रात्रि-वारका
सुमार्ग भी दीर्घ [2]त्रयोदशाब्द है॥
न शीघ्रगामित्व, न मंदगामिता,
न यान साहाय्य, न दंड धारणा।
न पास पाथेय, न दास-मंडली
तथापि जाना अनिवार्य कार्य है॥"
(४१६--५२से ५४ तक)

× ×

---

[1]विवाह, [2]तेरह गुणस्थान।

उसके बाद उनका अन्तिम निश्चय हुआ—

"अतः चलूंगा कल मैं अवश्य ही
मुझे महा-सिद्धि-विवाह-ध्येय है
प्रवृत्त होगी कल मार्ग मासकी
पवित्र शुक्ला दशमी मनोरमा"

(४१७–५८)

पांचवें सर्गमें इस घटनाको रवीन्द्र-कल्पनाने आगे इस प्रकार बताया :—

"हुआ उसी काल, अहो ! अनन्तमें
निदान ऐसा कि जिसे कवीन्द्र ही
निशान्तमें है सुनते कभी, यदा
गभीर हो स्तम्भित, शान्त व्योम हो ।

(५०१–३७)

× ×

कुबेर सचालित चार अश्वका
समीप ही स्यंदन एक आ गया ।
इतस्ततः सैन्धव स्वीय टापसे
अ-धूलि धूलिध्वज थे बिखेरते ।

(५०१–३४)

× ×

तुरन्त ही दिव्यरथी शतागसे
हुआ महीपै अवतीर्ण सामने;
विनीत हो, और निबद्ध-पाणि हो
यतीन्द्रसे की इस भाँति प्रार्थना :—
"अवाप्त की है वह उच्च भूमिका,
प्रभो ! मिला जो वरदान आपको,"

× ×

"अतः चलो संप्रति दिव्य-लोकमें—
निसर्ग-अंतःपुरमें—जहाँ प्रभो !
समस्त-देवासुर-मौलि-लालिता
विराजिता है वह आदि-देवता ।

(५०२–४२)

× ×

मनुष्यके सुन्दर रंग-रूपमें
जिनेन्द्र-आत्मा अलकेश-संग ही
हुई समासन्न; तुरन्त व्योमको
विशाल धाराट उड़े विमान ले ।

(५०४–४५)

× ×

जहाँ न पानी-पवनानलादिका
प्रवेश होता महिका न व्योमका
नितान्त एकान्त-निवासमें कहीं
जिनेन्द्र थे, और अनन्त शक्ति थी ।

(५१२–७८)

× ×

पवित्र एकान्त ! त्वदीय अंकमें,
त्वदीय छाया-मय मंजु कुंजमें,
मुनीन्द्र, योगीन्द्र, किसे न अंतमें
सदैव दैवी-सहचारिणी मिली ।

(५१२–७९)

"खड़ा रहा स्यंदन एक याम ही
जिनेन्द्र लौटे सँग दिव्यशक्तिके

प्रकाशके अन्दरमें छिपे हुए
सुव्यवित दोनो द्रुत एक हो गए"
(५१३-८०)

कविने इस प्रकार भगवानके विवाहका आध्यात्मिक रूप दिया है और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर आम्नायकी मान्यताओमे सामञ्जस्य बिठाया है।

इसी प्रकार कविने भगवानके दिगम्बरत्वके विषयमे भी समन्वय किया है। उन्होंने माना है कि दीक्षाके समय भगवान निर्ग्रन्थ-निर्वस्त्र हो गए थे, किन्तु देव-दूष्य समीप था —

"अहो अलंकार विहाय रत्नके
अनूप रत्न-त्रय-भूपिताग हो
तजे हुए अंबर अंग-अंगसे
दिगम्बराकार विकार शून्य हो।
समीप ही जो पट देव-दूष्य है
नितान्त श्वेताम्बर-सा वना रहा
अग्रय, निर्द्वन्द्व महान संयमी,
वने हुए हो जिन-धर्मके ध्वजी।
(४३२-४३३ पृ० ११९-१२०)

'वर्द्धमान' के पाठक यदि ध्यानसे ग्रथका अध्ययन करेगे तो पाएँगे कि कविने दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नायमे ही नही, जैन धर्म और ब्राह्मण धर्ममे भी सामञ्जस्य विठानेका प्रयत्न किया है। कवि स्वयम् ब्राह्मण है। उन्होने अपनी ब्राह्मणत्वकी मान्यताओको भी इस काव्यमें लानेका प्रयत्न किया है। वास्तवमें भगवान महावीरके जीवनमे ही सच्चे ब्राह्मणत्वको आदरका स्थान प्राप्त है। दिगम्बर आम्नायानुसार इस वातका कम महत्व नही कि केवल-ज्ञान प्राप्त होने पर ६६ दिन तक भगवानका उपदेश न हो सका क्योकि उनकी वाणीको हृदय-ग्राह्य वना कर जन-जनमें प्रचार करनेकी क्षमता रखने वाला व्यक्ति,

जिसे शास्त्रीय भाषामें 'गणधर' कहते है, प्राप्त न हो पाया और जब यह महा-ज्ञानी पुरूष प्राप्त हुआ तो वह अपने समयका प्रकाण्ड विद्वान इन्द्रभूति गौतम था जो जन्म और जातिसे ब्राह्मण था। भगवानके उपदेशसे प्रभावित होने वाले और उनके धर्ममे दीक्षित होने वाले प्रारभिक व्यक्तियोंमें ब्राह्मणोकी ही बहुलता थी।

यद्यपि भगवान महावीरकी साधना और उपदेशका एक प्रधान लक्ष्य वैदिक-यज्ञोकी हिंसावृत्तिको रोकना, और वैदिक क्रियाकाडके अर्थहीन और स्वार्थपूर्ण बन्धनोसे सर्व-सामान्यका उद्धार करना था, किन्तु वेदके जिन दार्शनिक अंशोमें तत्कालीन विद्वानोको पूर्वापर विरोध प्रतीत होता था, उस विरोधका निराकरण भी भगवान्ने जैन-दर्शनके मूल-सिद्धान्तोके आधार पर किया। वेदोके दार्श-निक भागमें जहाँ पूर्व तीर्थकरो द्वारा प्रचारित श्रमण सस्कृतिकी विचारधारा ग्रहण की गई है, उसका निदर्शन उसी सस्कृतिके आधार पर किया जा सकता था।

ऊपर जिन इन्द्रभूति गणधरका उल्लेख किया है वह भगवानके प्रधान शिष्य उसी समय बने जब भगवानकी विवेचनासे उनका दार्शनिक संशय नष्ट हो गया। जैनागमोमे इस तात्विक चर्चाका जो उल्लेख आया है उससे प्रतीत होता है कि इन्द्रभूति गौतमको आत्मा (पुरुष) के अस्तित्वमे शका थी। उसने वेदमें पढा था —

"विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति"।

इन्द्रभूतिने इसका अर्थ समझा था :—

"विज्ञाघन अर्थात् चेतनापिड, भूतपादर्थो अर्थात् जल, पृथ्वी, अग्नि आदि भूत-समुदायसे उत्पन्न होकर उसी भूतसमुदायमें विनष्ट हो जाता है। प्रेत्य अर्थात् परलोककी कोई संज्ञा नहीं—परलोक नामकी कोई वस्तु नहीं।

और इन्द्रभूतिने वेदमे यह भी पढा था कि "स वै अयमात्मा ज्ञानमयः"—यह वही ज्ञानमय आत्मा है"। अत उसे शका थी कि विज्ञानघन वाली भूतिशक्ति-को ही आत्मा माना जाए जो विनष्ट हो जाती है अथवा ज्ञानमय आत्माका अलग स्वतंत्र अस्तिव माना जाए जिसका प्रथकत्व ऋषिने 'स वै अयमात्मा

ज्ञानमय' कह कर घोषित किया है। भगवानने इस शंकाका निवारण "विज्ञान-घन' वाली श्रुतिका निम्नप्रकार यथार्थ अर्थ समझाकर किया :—

विज्ञानघन, अर्थात् आत्मामें प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाली नवीन ज्ञानपर्यायोंका पिंड, भूतसमुदायसे उत्पन्न होता है अर्थात् संसारमें जीव-अजीव, जड़-चेतन जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं उनसे उत्पन्न होता है। और जब दूसरी ज्ञानपर्यायजा उदय होता है तो पहलेवाली ज्ञानपर्याय उसी ज्ञेयभूतपिंडमें विलीन हो जाती है—और उस समय उस पहलीवाली ज्ञानपर्याय (=प्रेत्य)की कोई संज्ञा (उपयोगिता) नहीं रह जाती।

जैसा कि पहले कहा गया है, 'वर्द्धमान' काव्यमें इस प्रकारकी तात्त्विक चर्चाका उल्लेख नहीं है क्योंकि वह काव्यमें आ नहीं सकती थी और यदि आती तो काव्य की सरसताका क्षेत्र और भी अधिक संकुचित हो जाता। लेखकने जहाँ भगवान द्वारा वेद-विहित तत्त्वोंकी यथार्थ विवेचनाकी ओर संकेत किया है वहाँ कुछ बातें ऐसी भी कह दी है जो जैनदर्शनकी मौलिक मान्यताओंसे मेल नहीं खाती, और जिनके विषयमें संभवतया कवि अपने मनमें सामञ्जस्य नहीं बिठा पाये हैं। उदाहरणार्थ —" . . लोकनाथ की,

बिना अनुज्ञा डसती न मृत्यु हैं। (३३०–६१)

× × ×

"चतुर्दिशा, ईश्वरसे विनिर्मिता;
विराजमाना यह सृष्टि धन्य है। (३६५–८३)

× × ×

"कृतज्ञ होना उस सूत्रधारका" (३६५–८४) आदि।

इसी प्रकार अवतारवाद और पराश्रयताके विचार भी जैन परंपरासे मेल नहीं खाते —

"मनुष्य जो हैं पहचानते मुझे,
वही प्रशंसा करते स-प्रेम हैं

समस्त-संसार-हितार्थ मैं सदा
स्वजन्म लेता करता सुकर्म हूँ" (२९६–४६)

× × ×

स्वमृत्यु संध्या तक यों चले चलो
न दूर-यात्रा-श्रम हो, मुझे भजो। (२९७–४९)

एक स्थानपर कविको जैन आर्यकाओंकी वेशभूषाके सम्बन्धमे भ्रम हो गया मालूम होता है। प्रसग मिलाकर देखिए —

" नवार्जिका-सी त्रिशला प्रतीत थीं" (९१–७२)

काव्यमे दो चार स्थलोपर कविके हाथसे सर्वसम्मत इतिहासका सूत्र भी छूट गया है।

महारानी त्रिशला सो रही है। स्वप्न देखनेका क्षण आ गया। रात्रिका वह चतुर्थ याम है। पर, आजके-दिन-जैसी कल्पना की गई है कि तीनका घटा बजनेवाला है और नीलाममे स्वप्नोकी बोली छूटनेवाली है —

"कुस्वप्न-दुस्स्वप्न समस्त विश्वके
सजे हुए हैं मन पण्य-वीथिमें
प्रभात घंटा अब तीनका बजा
किन्हे करेगी क्रय भूप-योषिते ! (१०६–२०)

'ह्वेल' मछली, अलक्षेन्द्र (Alexander) और स्थानकवासि साधुके उल्लेख भी इसी श्रेणीमें आते हैं —

त्रिशलाको स्वप्नमे सागर दिखाई दे रहा है :—

"समुच्च थी उत्थित वीचि भित्ति-सी
अजस्र आलोडित ह्वेल कृत्तिसी (१०९–३३)

भगवान महावीरकी विचारधारा चल रही है :—

बने महाद्वीप भविष्य-भूतके
सुमध्यमें जीवन अन्तरीप-सा
सम्हाल ले जो पथ वर्तमानका
वही अलक्ष्येन्द्र-समान ख्यात हो (३०४–७६)

प्रकृति वर्णनके प्रसगमे कहा गया है :—

"प्रसन्न है सम्प्रति अन्तरिक्ष भी
प्रपन्न ज्यो स्थानकवासि साधु हो (१२६–३९)

कालानुक्रमकी दृष्टिसे उक्त चारो उल्लेख भगवान महावीरके ऐतिहासिक युगसे मेल नही खाते क्योकि उस समय तक ऐसी उपमाओ और कल्पनाओका आधार-अस्तित्व हीन था। पर, यदि इतिहासकी बात छोड दी जाये तो जहां तक आजके पाठककी रसानुभूतिका सम्बन्ध है, उपर्युक्त चारो उपमाये सुन्दर और यथार्थ है। ऐतिहासिक सत्यके अतिरिक्त एक और सत्य है जिसे 'काव्य-गत-सत्य' कहते है। इस 'काव्य-गत-सत्य'का मूल्य रस-खोजी पाठकके लिए ऐतिहासिक सत्यसे भी अधिक है। हाँ, समालोचककी दृष्टि इतिहास-गत-सत्यपर भी समान रूपसे स्थिर है। वह तो टोकेगा ही।

इतिहासकी बात उठ गई है, इसलिए यह कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि भगवान महावीरके जीवन-इतिहासकी उपलब्ध सामग्री इतनी अल्प है और हमारी कई मान्यताये सम्भवतया इतनी निराधार है कि विद्वानोकी उदासीनतापर खेद और श्रद्धालुओके विश्वासपर विस्मय होता है।

भगवान महावीरके जीवन-इतिहासके सम्बन्धमे दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओमे कितना गहरा अन्तर है यह ऊपर दिखाया गया है। लगता है जैसे सम्प्रदायोकी श्रद्धाने इतिहाससे चाकरी करवाई हो। भगवानका जीवन-वृत्त यदि स्पष्ट न हो तो समझमे आ सकता है, पर जब भगवानके जन्मस्थान और निर्वाण-स्थानके विषयमे भी भ्रान्ति या सशय देखा जाता है तो विशेष दुःख होता है। लक्ष-लक्ष श्रद्धालुओने राजगृह और नालंदाके पास जिस अगदेशीय लिछुवार (मुंगेर जिला)के कुण्डलपुरको भगवानकी जन्मभूमि मानकर शताब्दियोसे उपासनाके अक्षत और पुष्प चढाये है, वह कुण्डलपुर आज ऐतिहासिकोकी दृष्टिमे उस यथार्थ जन्मभूमिसे भिन्न है जो विदेहमें वैशालीके नामसे जाना जाता है और मुजफ्फरपुर जिलेमे जिस स्थानको बसाट कहते हैं। इसी प्रकार मगधके पटना जिलेमे राजगृहके पास जिस पावापुरीको भगवानकी निर्वाण भूमि मानकर शताब्दियोसे श्रद्धालुओने

असख्य दीपक जलाकर अपनेको धन्य और कृतकृत्य माना है, उस पावापुरको निर्वाण-क्षेत्र माननेमे अनेक ऐतिहासिकोको आपत्ति है। श्री प० राहुल साकृत्यायन मानते है कि जो पावा भगवान महावीरकी निर्वाण भूमि थी वह मल्लोकी पावा, देवरिया जिलेमे पडरौनाके पास पपौर हो सकती है। श्री डा० राजवली पाडेय, पावाको गोरखपुर ज़िलेमे सठियॉव (फाजिल नगर) के आस-पास अवस्थित मानते है।

ऐसी अवस्थामे 'वर्द्धमान' काव्यमे वर्णित ऐतिहासिक-आधारपर अधिक तर्क-वितर्क करना उपादेय नही। महाकवि अनूप शर्माने इस महाकाव्यके लिए पराम्परागत मान्यताओमेंसे उनको ही चुना है जो काव्यको प्रसार और सौंदर्य प्रदान करनेमे अथवा सामजस्य स्थापित करनेमे सहायक समझी गई। महामहिमामय भगवान् महावीरका साङ्गोपाङ्ग जीवनचरित्र भविष्यमे जब महाकाव्यके रूपमें पुन. लिखा जायेगा तो कविवर अनूपका यह महाप्रयास ही कवियोकी कल्पनाको मौलिक स्फूर्ति प्रदान करेगा।

श्रद्धाका यह काव्य-प्रसून अपने असीम लालित्यके साथ सदा ही सरस्वतीके मन्दिरको सुरभित और शोभित बनायेगा। भारतीय ज्ञानपीठके सचालकोका यह विश्वास उन्हे प्रफुल्लित कर रहा है।

कविके प्रति अपनी कृतज्ञता हम किन शब्दोमे व्यक्त करे? उन्होने हमारे हृदय-मन्दिरके लिए भगवानकी यह काव्यमय अक्षय सौम्य मूर्ति गढी है जिसका ध्यान और मनन जीवनको उन्नत और पावन बनायेगा :—

"ललाटमें एक अनूप ज्योति है
प्रसन्नता आननमें विराजती
मनोज्ञता शोभित अंग-अगमें
पवित्रता है पद-पद्म चूमती" (४९५–८)

लक्ष्मी चन्द्र जैन
सम्पादक
लोकोदय ग्रन्थमाला

डालमियानगर
१० जुलाई १९५१

लेखकका वक्तव्य

कोई पाँच-छ वर्ष पहलेकी बात है। जैन-मुनि श्री चौथमलजीके तत्वावधानमे श्वेताम्बर-समाजका एक बहुत बडा समारोह भारत-प्रसिद्ध चित्तौड-दुर्गपर हुआ था। उक्त अवसरपर एक अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन भी स्वर्गीय श्री मनोहरलाल जैन (कानपुर) द्वारा आयोजित किया गया था। समारोह समाप्त हो जानेपर श्री चौथमल तथा मनोहरलालजीने इच्छा प्रकट की कि मै भगवान् महावीरके जीवन-वृत्तको लेकर एक महाकाव्य लिखूं। श्री मनोहरलाल मेरे शिष्य थे, तथा श्री चौथमलजीसे मेरा घनिष्ठ परिचय था। उनकी इच्छाओके विरुद्ध आचरण करना मैने अपना धर्म न समझा। एक और बात थी। इस घटनाके पहले मै 'सिद्धार्थ' (महाकाव्य) लिख चुका था, जिसका स्वागत हिन्दीके विद्वानोने इतना किया कि वह ग्रथ विविध विश्व-विद्यालयोके पाठ्यक्रममे रखा गया तथा समालोचकोने भूरि-भूरि प्रशसा की। इन सभी प्रोत्साहनोके समक्ष मुझको झुकना पडा। फलत. आज वह सकल्प 'वर्द्धमान' होकर आपके सम्मुख उपस्थित है।

श्री चौथमलजीकी इच्छा थी कि भगवान्का चरित्र सर्व-साधारणके लिए पाठ्य हो. तथा श्री मनोहरलालजी, जो कानपुरमे श्वेताम्बर तथा दिगबर-सभाओके समान-रूपसे अध्यक्ष थे, यह चाहते थे कि इन दोनो आम्नायोके कटु विभेद दूर हो, वह अपने दृष्टि-कोणको समन्वित कराना चाहते थे। मैने दोनो मतोको युक्ति-युक्त समझ कर इस ग्रथको लिखा है। दूसरे, मैं स्वय सनातन-धर्मको माननेवाला हूँ, जिसका आधार ही समन्वय-वाद है। अतएव मैने इस प्रधानकको श्लाघ्य एव हृद्य समझा तथा ग्रथ-निर्माणमे प्रवृत्त हो गया। जब दो-तीन वर्षके अनन्तर पुस्तक समाप्त हुई तो देखा कि उसको सुनकर अधिक प्रसन्न होनेवाले दोनो सज्जन स्वर्ग सिधार गये। मेरे सम्मुख बहुत बडा प्रत्यूह

उपस्थित हो गया। ग्रथ तो छपता ही, क्योंकि जैन-समाज समृद्ध एव उदार है, परन्तु मेरे हृदयकी खिन्नता ज्योकी त्यो आज भी बनी है। इस बीचमे मैंने ग्रथकी पाण्डु-लिपि बनाकर अपने प्रकाशक श्री नाथूराम 'प्रेमी', अध्यक्ष, हिन्दी-ग्रथ-रत्नाकर, (बबई) के पास भेजी। उन्होने उसको प्रकाशनार्थ मत्री महोदय, ज्ञान-पीठ, काशीको प्रेषित की, क्योकि वृद्धता तथा अन्य कौटुबिक दु खके कारण वह कुछ असमर्थ-से हो गये है। श्री शान्तिप्रसादजीने उनके प्रस्तावको स्वीकृत कर लिया, तथा श्री लक्ष्मीचन्द्रजी, एम० ए०। और श्री अयोध्याप्रसादजी गोयलीयकी देख-रेख मे इसका प्रकाशन सभव हो सका। मै इन तीनो सज्जनो-को हृदयसे धन्यवाद देता हूँ। ——इति शम्

धामपुर,
वसन्त पचमी,
वि० स० २००७

—"अनूप"

प्रस्तावना

भगवान् महावीर

[जीवन-वृत्त]

१. तत्कालीन परिस्थिति—

विक्रमीय सवत्से कोई ६०० वर्ष पहले हमारे देशकी धार्मिक, सामाजिक, एव राजनीतिक अवस्था कुछ और ही थी। देशमे वैदिक धर्म, जो उस समय श्रौत-धर्मके नामसे प्रसिद्ध था, प्राय सर्वत्र प्रचलित था। उपनिषदोका अध्यात्म-वाद तथा कपिल मुनि द्वारा निर्दशित ताप-त्रय-निवृत्तिके सिद्धान्त देशके कोने-कोनेमें फैले हुए थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य ही द्विज शब्दका प्रयोग कर सकते थे। अन्त्यज जातियाँ यज्ञ-क्रियाओकी अधिकारिणी नही समझी जाती थी। यह वैदिक क्रिया-काण्डका युग था। इस युगका उस समयके प्रचलित जैन-धर्मपर बहुत प्रभाव पडा। तेईसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथको दिवगत हुए अभी तीन शताब्दियाँ भी नही हुयी थी कि उनके सघकी अवस्था शोचनीय हो चली। समय यद्यपि धर्म-भावनाका था—परन्तु धार्मिक भावनाएँ, श्रद्धा एव सदनुष्ठानके स्थानपर अध-विश्वास, हिंसा तथा प्रचलित रूढियोको पुष्ट कर रही थी।

अंग, मगध, वत्स, अवन्ती, सिधु आदि अनेक भू-भाग उस समय राज-सत्तात्मक थे, फिर भी वहाँकी प्रजा सुखी और सम्पन्न थी, परन्तु, काशी, कोसल, विदेह आदि अनेक प्रान्त प्रजा-सत्तात्मक भी थे। इन प्रदेशोमे यद्यपि नाम-मात्रके राजा होते थे, तथापि वहाँकी राज्य-व्यवस्था प्रत्येक जातिके नायकके हाथमे रहती थी, जिसको 'गणराज' कहते थे। उस समय विदेह देशकी राजधानी वैशाली थी, जो अपनी समृद्धिके लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। मिथिलाकी चिर-

सचित समृद्धि उस समय वैशालीमें केन्द्रीभूत हो रही थी। वहाँके निवासी, वृजिक और विदेह, यदि देवता थे तो वैशाली एक अमरावती थी। हैहय-वशी जैन-राजा चेटकके समयमें वैशाली सुख और समृद्धिकी चरम सीमापर पहुँच चुकी थी। वैशालीके पश्चिम परिसरमे, गडकी नदीके तटपर, दो उपनगर—ब्राह्मण-कुड और क्षत्रिय-कुड—अपनी अतुल समृद्धिके कारण अत्यन्त प्रसिद्ध थे। ब्राह्मण-कुडपुरके नायक ऋषभदत्त थे, उनकी गृहिणीका नाम देवनदा था। क्षत्रिय-कुड पुरके नायकका शुभ नाम सिद्धार्थ था जिनकी रानी त्रिशला वैशालीके महाराज चेटककी भगिनी थी।

२ च्यवन और जन्म—

भगवान् महावीर प्राणत नामक कल्पसे च्युत होकर, विक्रमीय सवत्से ५५३ वर्ष पूर्व, आषाढ शुक्ला षष्ठीकी मध्य रात्रिके समय, कहते है[1] ब्राह्मण-कुडपुरमें देवनदाकी कुक्षिमे अवतीर्ण हुए। क्षण-भरके लिए सारा जगत दिव्य प्रकाशमें चमक उठा और पृथ्वी हर्षोत्फुल्ल हो गयी। गर्भ-स्थापनाके ८३वे दिन, मध्य रात्रिके समय, सौधर्मेन्द्रकी आज्ञासे हरिणैगमेषी नामक देवने देवनंदाकी कुक्षिसे भगवान्को निकालकर त्रिशलाके उदरमे प्रविष्ट कर दिया, क्योकि तीर्थंकरोका जन्म ब्राह्मण-कुलमें एक अनहोनी बात थी। यह गर्भ-परिवर्तन आश्विन वदि त्रयोदशीको हुआ। उस समय त्रिशला देवीने भी वही १४ स्वप्न देखे जो गर्भ-स्थापनाके पूर्व देवनन्दाको दिखायी पडे थे। हस्ती, वृषभ, सिंह, लक्ष्मी, पुष्प-माला, चद्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, पद्म, सरोवर, क्षीर-समुद्र, देव-विमान, रत्न-राशि और निर्धूम अग्नि—यह १४ पदार्थ स्वप्नमे दृष्टि-गोचर हुए। इन स्वप्नोके दर्शनका फल स्वप्न-पाठियोने यह बतलाया कि यथा-समय त्रिशला देवीके गर्भसे किसी महान चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकरको जन्म लेना चाहिए। दिगम्बर परम्पराके अनुसार त्रिशला देवीको ही १६ स्वप्न हुए तथा भगवान्का गर्भागमन भी उन्हीकी कुक्षिमे हुआ।

---

[1] श्वेताम्बर परम्परा।

भयभीत हो गये, परन्तु कुमारने उसका दमन कर दिया। तदनन्तर वह देव एक बालक बनकर अन्य बालकोके साथ खेलमे मिल गया तथा कुमारको अपनी पीठपर बिठाकर दौड़ने लगा। दौडते-दौडते उसने अपना शरीर बढाना प्रारंभ कर दिया। यह देखकर कुमारने उसकी पीठपर एक मुष्टिक प्रहार किया। तब वह देव व्याकुल होकर पुन अपने पूर्व-रूपमे आ गया। वह प्रकट होकर निवेदन करने लगा, "भगवन्, मै इन्द्र-द्वारा प्रेरित एक देव हूँ। मै आपकी परीक्षा लेने भेजा गया था और अब प्रशसक बनकर जा रहा हूँ। आप सत्यमेव महावीर है।" इस कथाका निर्देश-मात्र इस ग्रथमें किया गया है।

४ विवाह-प्रसग—

दिगम्बर-सप्रदाय भगवान् महावीरको अविवाहित मानता है, परन्तु श्वेताम्बर ग्रथकार उनको विवाहित मानते है। श्री भगवान्के मोक्षगामी होनेके बहुत वर्षके अनन्तर विदेह देशमे घोर अकाल पडा था। फलत उनके अनुयायी, जो जीवित बच सके, दक्षिणकी ओर चले गये। अनुयायियोके तितर-बितर हो जानेके कारण बहुत-सी धार्मिक सामग्री नष्ट-भ्रष्ट हो गयी तथा उनके जीवन-वृतान्तका बहुत-कुछ भाग लुप्त हो गया। अतएव, ऐतिहासिक आधारपर उनकी जीवनीका लिखना असभव हो गया। कहा जाता है कि उनकी पत्नीका नाम यशोदा तथा कन्याका प्रियदर्शना था। कुछ हो, विवाह होने तथा न होनेसे उनकी वैयक्तिक महत्तापर कुछ भी प्रभाव नही पडता। यह ग्रथ साम्प्रदायिक दृष्टि-कोणसे नही लिखा गया है, अतः लेखकका क्या मत है, यह जाना नही जा सकता। यो तो लेखकने मुक्ति-दाराका पति मानकर भगवान्की पूजा-प्रशसा की है, परन्तु उसने तो एक काव्य लिखा है न कि उनका ऐतिहासिक जीवन-वृत्त जो सर्वथा अप्राप्य एव अपूर्ण है।

५. अभिनिष्क्रमण—

भगवान्को २८ वर्षकी आयु तक पहुँचते-पहुँचते उनके माता-पिताका देहान्त हो चुका था। अब उनको ससारसे विराग हो गया था परन्तु परिजनोके अनुनय-विनय करनेपर दो वर्षके लिए उन्होने गृह-त्यागका निश्चय स्थगित कर

दिया और अपना सयमित जीवन पूर्व-वत् विताते रहे। कोई ३० वर्षकी अवस्थामें उन्होने अपना ध्यान दीन-दुखियोके उद्धारकी ओर आकृष्ट किया और प्रति-दिन दान देते-देते अपनी सारी सपत्ति उनको दे डाली। धन-धान्य, भूमि-परि-वार आदिसे अपना चित्त हटाकर, राज्य-वैभवको पूर्ण परित्याग कर, मार्गशीर्ष शुक्ला दशमीके दिन चौथे पहर चद्र-प्रभा नामक पालकीमे सवार होकर, वह राज-भवनसे निकल पड़े। उस समय राज-कुटुम्ब, राज्याधिकारी, सेना आदिके अतिरिक्त सैकडो आ-बाल-वृद्ध नागरिकोने उनका अनुगमन किया। नगरके बाहर, ईशान दिशाकी ओर, ज्ञात-खड नामक उद्यानमे उनके दीक्षा-महोत्सवकी शोभा-यात्रा एक अशोक वृक्षके नीचे पहुँची। वहीपर भगवान्ने वस्त्राभूषण परित्याग कर, पच-मुष्टिक केश-लोचके अनन्तर, अपने भावी जीवनका दिग्दर्शन करानेवाली यह प्रतिज्ञा की —

"मैं सम-भावको स्वीकार करता हूँ और सर्व-सावद्य-योगका परित्याग करता हूँ। आजसे यावज्जीवन, कायिक, वाचिक तथा मानसिक सावद्य-योग-मय आचरण न तो स्वय करूँगा और न करनेवालेका अनुमोदन करूँगा।" उक्त प्रतिज्ञा करते ही उनको "मन पर्य्यय" नामक ज्ञान प्राप्त हुआ।

६ तपस्वी जीवन—

दीक्षा लेकर भगवान् प्रव्रज्या कर गये। साढे बारह वर्ष तक उन्होने कठोर तपस्या की। तपस्वी-जीवनमे उनको नाना प्रकारके दु ख, घोर आपत्तियो तथा अति कठोर विपदाओंका सामना करना पडा। सर्प, अग्नि, जल आदिके भयोको धैर्य्य-पूर्वक सहन करना पडा। राज-दडसे भी वे न बच सके। चोर अथवा गुप्त-चर समझकर राज-कर्मचारियोने उनको नाना प्रकारके दड दिये, परन्तु भगवान् उन सबको साहस और धैर्य्यके साथ सहते रहे। न तो वह किसी अप्रीति-कर स्थानमें ठहरते थे और न भिक्षाके लिए किसी गृहस्थसे याचना करते थे। वह नित्य ध्यानमे लीन, मौन-व्रत पालन करते हुए, दिनमें केवल एक बार हाथमें लेकर भोजन करके अपने दिन विताते थे। उन्ही दिनो उनको गोशालक नामका एक साधु-वेषी व्यक्ति मिला, जो बिना उनकी इच्छाके साथ-साथ हो लिया।

परन्तु वह धूर्त निकला और, अतमें, कुछ दिन बाद भाग गया।

इस प्रकार भगवान् तपश्चर्य्यासे अपने पूर्व-कृत कर्मोका क्षय करने लगे। विषम उपसर्ग तथा घोर परीषहोको सहते हुए तथा विविध ध्यान-तप आदिका निरतर अभ्यास करते हुए दृढ-प्रतिज्ञ वीर भगवान्ने साढे वारह वर्षसे कुछ अधिक समय तक कठिन तप किया तथा क्रोध, मान, माया आदि कषायोके ह्रास हो जानेसे उनमे क्षमा, मृदुता, आर्जव, सतोष, प्रभृति आत्मिक गुणोका विकास हुआ। तब उनका जीवन लोकोत्तर एव निर्मल हो गया। इस १२-१३ वर्षके दीर्घ-कालमे भगवान्ने केवल ३४९ दिन ही पारणा की तथा सभी उपवास निर्जल ही रखे।

एक दिन जभिय (जृम्भिक) नामक गाँवके समीप, ऋजुबालिका नदीके उत्तर तटपर देवालयके समीप ही शाल-वृक्षके नीचे भगवान् ध्यानावस्थित हो गये। कामदेव द्वारा परीक्षा लिये जानेपर, उत्तीर्ण होकर, वह यहाँपर पधारे थे। शीघ्र ही शुक्ल ध्यानके दो सोपान पार कर, उन्होने चार घातिक कर्मोका क्षय किया। उसी समय (वैशाख शुक्ला दशमीके चौथे पहर) उन्होने केवल ज्ञान प्राप्त किया। अब भगवान् सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो गये। सपूर्ण लोकालोकान्तर्गत, भूत-भविष्यत्, सूक्ष्म-व्यवहित, मूर्तामूर्त पदार्थ उनके ज्ञानमे अलोकित होने लगे।

७. तीर्थकर अवस्था—

उस समय पावा (मध्यमा) नगरीमे एक बृहत् यज्ञ चल रहा था। सोमिलाचार्य्य नामक एक विद्वान ब्राह्मण उस सत्रके यजमान थे। उसमे देश-देशान्तरके वडे-बडे विद्वान ब्राह्मण आमन्त्रित किये गये थे। केवल-ज्ञान-प्राप्त महावीरने सोचा कि यह अवसर अपूर्व लाभका कारण होगा, यज्ञमे आमन्त्रित विद्वान ब्राह्मण प्रतिबोध पावेगे और जैन-धर्मके आधार-स्तभ बनेगे।

अतः भगवान्, वहाँसे १२ योजन मार्ग रातभरमें पार कर, पावा नामक नगरीमें पहुँचे। दूसरे दिन एक महती सभामे लोक-अलोक, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष आदिका अस्तित्व सिद्ध किया।

नरक क्या है, नरकमें दु ख क्या है, जीव नरकमे क्यो जाते है; तिर्यंच गतिमें जीवोको किस प्रकार शारीरिक एव मानसिक कष्ट सहन करने पड़ते है, इत्यादि प्रश्नोका विवेचन किया। देव-गतिमें पुण्य-फलको भोगकर अविरत जीव किस प्रकार पुन. ससारकी नाना योनियोमें भ्रमण करते हैं, इसका भी रहस्य उन्होने उद्घाटित किया। अनमे भगवानने, मनुष्य-योनिको अधिक महत्त्व-पूर्ण तथा दुर्लभ बताते हुए, उसको सफल बनानेके लिए पाँच महाव्रत, पाँच अणुव्रत, सात शील तथा सम्यक्त्व-धर्मको समझाया। फलत उस यज्ञमें आमन्त्रित ११ प्रधान ब्राह्मणोने भगवान्से दीक्षा ग्रहण की। उन ११ वैदिक ब्राह्मणोको वेद-विषयक शकाएँ थी। भगवान्ने तात्त्विक दृष्टिसे विवेचना करके उनका समाधान किया। अत सभी ब्राह्मणोको विश्वास हो गया कि भगवान्का कथन ही यथार्थ 'वेद' है। कहा जाता है, इनके अनतर ४४११ ब्राह्मणोने निर्ग्रन्थ प्रवचन अगीकार किया तथा भगवान्के श्रामण्य-धर्मको स्वीकार किया।

तदनन्तर कोई तीन वर्ष तक भगवान्ने, विहार तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशोमे घूम-घूमकर, जैन-धर्मका प्रचार किया। उन्होने समय-समयपर अनेक प्रसिद्ध विद्वानो तथा राजाओको दीक्षा दी। इन दीर्घ-कालीन धर्म-प्रचारका विवरण देनेके लिए एक अलग ही ग्रथ चाहिए। वह विवरण धार्मिक होते हुए भी काव्यके लिए उपयुक्त विषय नही है। अपने जीवनके अतिम समयमे भगवान् पुन. पावामे पधारे। यही उन्होने अपने अतिम उपदेश भी दिये। उनके अतिम उपदेशोकी अखड धारा कार्तिक अमावस्याकी पिछली रात तक चलती रही। ब्रह्ममुहूर्त होते ही वे इस असार ससारको वास्तविक धर्मका सार देकर विक्रमीय सवत् पूर्व ४७०मे सिद्धपद प्राप्त कर गये।

वर्द्धमान

पहला सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

अनूप भू भारतवर्ष धन्य है,
धरित्रि कोई इस-सी न अन्य है
इसी मही-मध्य अनादि-काल से
समस्त तीर्थंकर[1] जन्म ले रहे।

(२)

प्रसिद्ध निःश्रेयस[2]-प्राप्ति के लिए
यही महापावन पुण्य देश है।
यही सदा कर्म-विनाश-कार्य के
लिए तपस्वी सुर भी पधारते।

(३)

हिमाद्रि-विन्ध्याचल-मध्य भूमि मे
हुआ समुत्पन्न न जो न धन्य सो।
सुना गया देश पुराण काल से
प्रसिद्धि-संवेष्टित[3] धर्म-क्षेत्र है।

---

[1]जीवन-मुक्त अथवा ईश्वर, भवसागर-तारक। [2]मुक्ति। [3]गक्त अथवा लिपटा हुआ।

(४)

शरण्य[1] धमर्थि-विमोक्ष-कामका,
अरण्य है जो तप-दान-मान का,
विशुद्ध जो सुन्दर स्वर्ग-लोक से
वरेण्य है लोक यही त्रिलोक में।

(५)

द्युलोक[2]-सख्यात[3] समस्त सौख्य जो,
प्रसिद्ध आत्यंतिक इन्द्रियार्थ है,
बने भले साधक नाक-लोक के,
परन्तु वे केवल-ज्ञान नाशते।

(६)

मनुष्य जो भारत-भूमि में हुये,
कभी समुत्पन्न किसी प्रदेश में,
अवश्य ही वे कर यत्न से सके
विमुक्ति की प्राप्ति स्व-कर्म-नाश से।

(७)

जहाँ न होता गुण-गान देव का,
जहाँ न हों सेवक साधु धर्म के,
जहाँ प्रतिष्ठा शुभ कर्म की न हो,
न देश है, केवल क्लेश-भूमि है।

---

[1]शरण-स्थान। [2]स्वर्ग। [3]प्रसिद्ध।

(८)

प्रसिद्ध भू में यह आर्य्य-खंड है,
हुई यही उन्नति कर्म[1]-धर्म की,
तपस्वियों के बहु योग-याग से
विशुद्ध है, सात्विक है, पवित्र है।

(९)

समुच्च-आदर्श-विधायिनी मही
प्रसिद्ध है भारत सर्व विश्व में,
यहाँ महा-मंत्र-मयी प्रभा लिए
सु-धर्म-साम्राज्य सदैव सोहता।

(१०)

जहाँ मही का दृढ मेरु-दंड-सा
समुच्च प्रालेय-गिरीन्द्र[2] राजता,
महीध्र[3] कैलाश विशाल मुंड-सा
किरीट-सा मेरु विराजता जहाँ।

(११)

सु-केश-सी कानन-श्रेणियाँ जहाँ
प्रलंब-माला-मयि-अर्क-जान्हुजा[4],
कटिस्थ विन्ध्याद्रि नितम्ब-देश-सा
लसा पद-क्षालन-शील सिंधु है।

---

[1]असि मषि आदि षट् कर्म। [2]हिमालय पर्वत। [3]पर्वत। [4]जमुना और गंगा।

(१२)

पुरा इसी भू-तल-वाम-भाग में
विदेह-नाम्नी, हृदय-स्थली-समा,
अपूर्व-आभा-मयि पूर्व-मेदिनी
अभूत थी, अद्भुत थी, अनूप थी ।

(१३)

विदेह[1] होते तप से नरेन्द्र थे,
विदेह होते जप से मुनीन्द्र थे,
विदेह होते नर दान-मान से,
विदेह था सार्थक नाम देश का ।

(१४)

विशाल तुंग-ध्वज चैत्य-[2]धाम से
प्रभूत शोभा-मय दिव्य देश था,
यहीं किसी काल, किसी प्रदेश में
जिनेन्द्र-संस्थापित धर्म-संघ था ।

(१५)

मुनीन्द्र-सचालित धर्म का यही
प्रचार था चारु चतुर्दिशा हुआ,
यही अहिंसा-व्रत के व्रती सुधी
स्व-धर्म के पालन में प्रसक्त[3] थे ।

---

[1]देह-भान-विहीन । [2]मदिर । [3]लग्न ।

(१६)

स्व-ज्ञान-संवर्धन हेतु वे सुधी,
अधीत[1]-एकादश-अंग-धर्म हो,
अवश्य ही आचरते अजस्र थे
सुतीर्थ-तीर्थंकर-पाद-अर्चना ।

(१७)

सुधी यहाँ के जिन-धर्म-सयमी
प्रसक्त नि.श्रेयस-प्राप्ति में रहे,
धरित्रि आ-पत्तन[2]-ग्राम-पल्लिका[3]
जिनेन्द्र-अर्चा-रचना-निलीन थी ।

(१८)

विभावना[4] षोडश[5] कारणादि की
विचारते थे जिन-धर्म के ध्वजी;
प्रसावना भी बहु-कर्म-त्याग की
अशेष प्राणी करते अजस्र[6] थे ।

(१९)

अनेक प्राणी बहु पुण्य-लाभ स
निवास पाते चिर इन्द्र-लोक में,
पुन. वही हो अवतीर्ण, जीवनी
मुदा विताते इस कर्म-भूमि मे ।

---

[1]पठित । [2]ग्राम । [3]छोटा ग्राम । [4]विचार । [5]तीर्थंकर बनने की सोलह भावनाएँ । [6]निरतर ।

(२०)

बने फलीभूत स्व-कर्म-त्याग में
पधारते थे उस उच्च लोक मे
जहाँ नहीं जा सकते सुरेन्द्र भी,
उन्ही नरों की यह जन्म-भूमि है।

(२१)

यही गृहों में अति उच्च चैत्य थे,
यहीं बनों में नर योग-लग्न थे;
सुदुर्लभा मानव-धर्म-भावना
इहैव[1] क्रीड़ा करती अजस्र थी।

(२२)

यही कहीं कुंडल[2] नाम की पुरी,
स्वदेश के कुंडल-सी मनोरमा,
समुच्च प्राकार[3] समेत सर्वदा
अराति[4] से रक्षित विद्यमान थी।

(२३)

यहीं कभी केवल-ज्ञान-संयमी-
समाज तीर्थंकर के लिए मुदा
सदैव कल्याणक[5] में निमग्न था,
मिलिंद ज्यों पद्म-पराग-पान में।

---

[1]यही। [2]कुंड (ल)=क्षत्रिय-कुंड, तड़ागके चतुर्दिक् बसे होने के कारण गोलाकार। [3]प्रकोष्ठ, घेरा। [4]शत्रु। [5]कल्याण देनेवाली पूजा।

(२४)

समुच्च चैत्यालय, धर्म-सिंधु की
तरंग-माला-सम, वर्तमान थे,
इसी धरा में जय-घोष से मुदा
अहर्निशा शब्दित देव-धाम थे।

(२५)

यहाँ लिए संपत्ति धर्म-भाव की
स्व-हस्त में दंपति देव-युग्म[1]-से
अजस्र ही मंदिर-द्वार से मुदा
निविष्ट होते, कढते स-भक्ति थे।

(२६)

उदार प्राणी निज द्वार पै खड़े
विलोकते थे पथ दान-पात्र का,
निवेश-शीर्षस्थ ध्वजा-समूह भी
बुला रहे थे सुर स्वर्ग-लोक से।

(२७)

पुरी-निवासी जन सत्य-मार्ग में
विलीन थे धर्म-रहस्य-खोज में,
सदा सदाचार-विमर्ष में लगे
पगे हुए थे पर-लोक-भाव में।

---

[1]जोड़ा या दंपति।

(२८)

यही यशस्वी हरि-वंश-व्योम के
दिनेश सिद्धार्थ प्रदीप्तमान थे,
प्रसिद्ध वे भूपति सार्वभौम थे,
सतोगुणी थे, जिन-धर्म-दूत थे ।

(२९)

महा विवेकी, शुभ-लक्षणाश्रयी[१],
कला-गुणाधार, अपार विक्रमी,
प्रसक्त थे वे व्रत-शील-ध्यान में
अजस्र ही सम्यक-दृष्टि-युक्त थे ।

(३०)

अनक-विद्याधर-भूमि-गोचरी-
प्रजा-जनानंद-विधातृ[२] भूप थे,
बहूत्सवा[३] क्षत्रिय-कुंड-भूमि के
नरेश सिद्धार्थ प्रसिद्धिवान थे ।

(३१)

सदैव विद्वद्वर-भृंग-मंडिता,
नृपाल की, शास्त्र-प्रसून-संयुता
सुपर्व[४]-पत्रान्वित थी विराजती
सभा, महा मंजुल कल्प-वृक्ष-सी ।

---

[१]शुभ लक्षणो का आश्रय लेनेवाले । [२]रचनेवाले । [३]अनेक उत्सव वाली । [४]देवता ।

(३२)

प्रसिद्ध थी जो धनदाश्रिता[1] तथा
सदैव सम्मानित धर्म-राज[2] से,
समाश्रिता जो गुरु[3] से अजस्र ही
सभा सुधर्मा कवि[4]-संयुता लसी।

(३३)

सुवर्ण-वर्णा, ललिता, मनोहरा,
सभा लसी यों पद-न्यास-शालिनी,
विरंचि-सिद्धार्थ-युता लखी गई
शरीरिणी ज्यों अपरा सरस्वती।

(३४)

उसी सभा में अहमिन्द्र-से लसे,
नरेन्द्र थे, देख जिन्हे तुरत ही
न स्रंस[5] होते रिपु-शस्त्र ही वरन्
दुखी नरों के दुख-दैन्य भागते।

(३५)

जिन्हे सदा उत्कट लालसा रही
विलोक ले विग्रह[6] कल्प-वृक्ष का,
कवीन्द्र वे भूप-सभा-निविष्ट हो
सनाथ भू में सब भाँति होगये।

---

[1]धनी अथवा कुबेर से युक्त। [2]धर्माधिकारी, यमराज। [3]बृहस्पति या गुरु। [4]शुक्र या कवि। [5]गिरते या पतित होते। [6]शरीर।

(३६)

परंतु जो सर्वद[1] सर्वदा उन्हें
विचारते थे, वह यो निराश थे,
न पीठ पाई अरि-वृन्द ने कभी,
न वक्ष देखा पर-नारि ने तथा।

(३७)

तथैव सर्वज्ञ न भूमि-पाल थे,
न जानते थे इतना कदापि वे,
नकार होती किस भाँति की, अहो !
अनाथ को, आश्रित को, अभाग्य[2] को—

(३८)

अराति के शोणित से प्रसिक्त जो,
कृपाण-धारा-पथ, मार्ग से उसी,
निवेश में आगत इन्दिरा[3] हुई
बहिर्गता कीर्ति हुई नरेश की।

(३९)

प्रसिद्ध है जो बल कर्म-राज का
तथा महा विक्रम[4] शेष-नाग का,
समान एकत्र हुए शरीर मे
अनूप-सिद्धार्थ-धरित्रि-पाल के।

---

[1]सब कुछ देने वाले। [2]भाग्य-हीन। [3]लक्ष्मी। [4]पराक्रम।

(४०)

न मेरु थे, क्योंकि गया सु-दूर सो,
हिमाद्रि भी थे न, बना शिलाढ्य जो,
मुकुन्द[1] अब्धिस्थ,[2] गिरीश[3] नग्न है,
नरेश क्या थे, जन जानते न थे।

(४१)

सदा प्रजा-रंजन, धर्म-पालना,
सुपात्र को दान, जिनेन्द्र-अर्चना,
विचार-संशोधित चार कार्य थे
महान सिद्धार्थ नराधिनाथ के।

(४२)

सरस्वती थी वदनारविन्द में,
अजस्र था दान करारविन्द में,
स्व-ध्यान जैनेन्द्र-पदारविन्द में,
स्व-राज्य-लक्ष्मी हृदयारविन्द में।

(४३)

भयद हेमन्त-जलेव[4] भूप की
सुदीर्घ हेमन्त-निशेव आयु थी,
सुसह्य हेमन्त-रवीव पार्थ[5] के
विनष्ट हेमन्त-नलेव शत्रु थे।

---

[1]विष्णु। [2]समुद्रमें। [3]शंकर। [4]जल-सी। [5]सिद्धार्थ।

(४४)

प्रसन्न लक्ष्मी गृह मे विराजती,
तथैव चितामणि राज्य-कोष में,
बसी विधात्री[1] मुख-मध्य शोभना,
प्रचंड चंडी भुज-दंड पै लसी।

(४५)

नरेन्द्र भू पै मलयाद्रि-तुल्य थे
महार्ह[2]-शाखा-सम हस्त में लसी
कृपाण सर्पाकृति[3], जो निकालती
सुकीर्ति का कंचुक[4] शत्रु-कंठ से।

(४६)

सुधैर्य्य, लावण्य, तथा गँभीरता,
अनूप तीनो गुण हैं समुद्र मे,
परन्तु जो नेत्र-प्रमोद दे सके
नरेन्द्र-सा विग्रह[5] सो न पा सका।

(४७)

न स्वप्नमें भी रण-मध्य भूप को
विमोचती थी सुभगा जयेन्दिरा[6],
प्रभाव[7] से पूर्ण यथैव कान्त को
न छोड़ती है वनिता रति-प्रिया।

---

[1]सरस्वती। [2]चदन। [3]सर्प की आकृति की। [4]तन-त्राण, सन्नाह। [5]शरीर। [6]विजय-लक्ष्मी। [7]वर्चस्व।

(४८)

नृपाल थे व्यस्त सदैव आर्त के
विपाद के भजन मे स-कष्ट[1] के,
न शखपद्मी न गदी[2], परन्तु वे
यथार्थत दो भुज के मुकुन्द थे।

(४९)

सदा द्विजावास[3] तथैव निर्मली
विशाल थे जीवन[4]-धाम राज्य के,
तडाग-से शोभित पद्म-युक्त वे
नरेश तृष्णा हरते अधीन की।

(५०)

नृपाल कालानल शत्रु-पुज को,
लखे गये कल्प-फली[5] कलाढ्य-से,
उन्हे शरीरी रति-नाथ-तुल्य ही
विलोकती थी गृह-इन्दिरा प्रिया।

(५१)

नरेश की कीर्ति अराति-ओक[6] मे,
अरण्य मे, अंबुधि मे, अहार्य[7] मे,
लसी अधो-भूतल-अतरिक्ष मे
महा मनोज्ञा बहुरूपिणी-समा।

---

[1]दुखी (मनुष्य) [2]गदा-युक्त। [3]पक्षी या ब्राह्मणो का निवास।
[4]जल। [5]वृक्ष। [6]गृह। [7]पर्वत।

[मालिनी]

(५२)

जलद-पटल से जो रुद्ध होता नही है,
त्रसित-ग्रसित होता राहु-द्वारा नहीं जो,
अपहृत-छवि नारी-वक्त्र[1] से भी न होता
यश-शशधर[2] ऐसा भूप सिद्धार्थ का था।

[वंशस्थ]

(५३)

महीप सिद्धार्थ प्रतापवान की
अनूप भार्य्या त्रिशला मनोरमा
विराजती थी छवि-गेह में शुभा
प्रदीप-सी मंजु प्रदीप-दर्शिनी।

(५४)

गुणान्विता, यौवन-संपदन्विता,
सु-पंडिता, बुद्धि-विवेक-शालिनी,
प्रकाशती चंद्र-कला-समान थी
नृपाल-चित्तोदधि-मोद-वर्द्धिनी।

---

[1]मुख। [2]चद्रमा।

(५५)

सु-आनना सुन्दर-चन्द्र-कान्त-सी,
सुकेशिनी नील-शिखा[1]-समान थी,
सु-पाद से आरुण[2] पद्म-राग-सी,
सु-शोभिता रत्न-मयी सुभीरु[3] थी।

(५६)

महा मनोज्ञा गुरु[4] वक्ष की प्रभा
समुज्वला थी मुख-चंद्र-चन्द्रिका,
शनैश्चरा[5] थी युगली सु-पाद की,
नृपालिका थी ग्रह-राशि-सी लसी।

(५७)

शरीर की यष्टि[6] लता-समान थी,
उरोज थे श्रीफल-से लसे जहाँ,
प्रसून-से अंग विलोक भूप भी
मिलिन्द-से मुग्ध बने अहर्निशा।

(५८) ।

दिवा-विलासी[7] मुख का प्रकाश था,
उरोज थे वन्द सरोज-युग्म-से,
मृणाल-से हस्त लसे अनूप थे,
सरोजिनी-सी त्रिशला ललाम थी।

---

[1]मयूरी। [2]लाल। [3]स्त्री। [4]वृहस्पति, गौरव-युक्त। [5]धीरे चलनेवाली अथवा शनि। [6]लाठी या लवाई। [7]कमल।

(५९)

सु-पुष्पिता दन्त-प्रभा-प्रभाव से,
नृपालिका[1] पल्लविता सु-पाणि से,
सुकेशिनी मेचक[2]-भृंग-यूथ से,
अनल्प थी शोभित कल्पवल्लरी।

(६०)

नितम्ब से स्थूल, कृशा सु-मध्य से,
उरोज से उन्नत-भार-संयुता,
समायता लोचन-युग्म से लसी,
सुरांगना-सी त्रिशला मनोरमा।

(६१)

विरंचि ने अद्भुत युक्ति से उसे
सुधामयी शक्ति प्रदान की मुदा।
विलोचनों में विष-दिग्ध[3] बाण की;
कटाक्ष में मृत्युमयी कृपाण की।

(६२)

विलोकती मंजु मृगी-समान ही
बनी मराली-सम चाल-युक्त सी;
सदा पिकी-सी कल कूजती हुई
निवेश को थी रचती अरण्य-सी।

---

[1]रानी। [2]नीला। [3]बुझे हुये।

(६३)

शरीर को भूषित भूषणावली
सदा बनाती, यह तो वृथा कथा,
विभूषणो को अपने शरीर से
बना रही प्रत्युत[1] सो सुरम्य थी ।

(६४)

सुधाधरा सुन्दरि मिष्ट-भाषिणी
सुभाषितो से नृप को विमोहती,
विलोचनो से चकिता मृगी-समा
विलोकती थी मुख प्राणनाथ का ।

(६५)

विलास थे मजु कला-निधान[2]-से,
अशोक-पत्राधर शुभ्र आस्य में,
अराल[3] विक्षेप कटाक्ष का सदा
सरोज-माला रचता मनोज्ञ था ।

(६६)

अहो ! बिना ज्या[4] भ्रुव-चाप की मुदा
कटाक्ष-बाणावलि से नृपाल का
नृपालिका चंचल चित्त बेधती
हुयी, लसी शर्व[5]-वधू अपार्थिवा ।

---

[1]बल्कि, अपितु । [2]चन्द्रमा । [3]टेढा । [4]प्रत्यचा । [5]शकर या भील ।

(६७)

मनोज्ञ बंधूक[1]-सुबंधु ओष्ठ थे,
महा कँटीले दृग केतकाभ[2] थे,
कपोल थे मंजु मधूक[3]-पुष्प से
रदावली दाडिम-बीज-सी लसी।

(६८)

असेत वेणी मधुपावली-समा,
सरोज-सा आनन भी मनोज्ञ था,
सुकोमला बाहु-छटा मृणाल[4]-सी,
कटाक्ष थे बाण महेश-शत्रु[5] के।

(६९)

अलक्त बिम्बाधर-सी सरस्वती,
सुरापगा थी मणि-कर्णिका—प्रभा,
सु-चारु वेणी यमुना-प्रवाह-सी,
नृपाल-दारा शुभ तीर्थ-राज[6] थी।

(७०)

सुगंध होती यदि जातरूप[7] में,
प्रसूत होती सुमना[8] त्रिरेख[9] से,
अवश्य पाती कटु साम्य धातु मे
विलेखनीया सुषमा मुखाब्ज की।

---

[1]बिम्बाफल। [2]केतकी-पुष्पके सदृश। [3]महुवा। [4]कमल-नाल। [5]कामदेव। [6]प्रयाग। [7]स्वर्ण। [8]चमेली। [9]शख।

(७१)

यथा-यथा अंबर त्यागती हुई
प्रसारती स्वर्ण-मरीचि भूमि में
तथा-तथा लोचन डालती हुई
विलोकती श्याम-सरोज-वृष्टि[1] थी

(७२)

तड़ाग में कंज, निशेश व्योम में,
समुद्र में रत्न, प्रसून भूमि में,
रचे पुरा वेधस[2] ने कहीं-कहीं,
परन्तु एकत्र किये यहीं-यहीं।

(७३)

नरेन्द्र-जाया त्रिशला मदालसा
प्रभूत सौंदर्य्य-सुखोपमा बनी
निवेश के अंगन में वरांगना
अभौम[3]-आभा-अधिदेवता-समा।

(७४)

नृपाल के आंगन में अहर्निशा
विशुद्ध-दुग्ध-च्छवि-अंग-अंगना।
विराजती केतक-पत्र-लोचना
अनंग के आयुध-सी विशाल थी।

[1] "जनु तहँ बरस कमल-सित-स्रयनी" (तुलसी) [2] ब्रह्मा। [3] स्वर्गीय।

(७५)

कुच-द्वय-श्रीफल-भग-कारिणी
नृपाल-पत्नी इस भाँति राजती,
सुधा-समापूरित स्वर्ण-कुभ से
अनग[1] का ज्यो अभिषेक साजती।

(७६)

मुखेन्दु था इन्दु कलक-हीन ही,
अलक्त[2]-बिंबाधर-बिंब-हीन ही,
अहर्निशा फुल्ल-सरोज नेत्र की
अनूप आभा अवलोकनीय थी।

(७७)

बनी विमाना[3] त्रिशला-मुखाब्ज से
अवाछनीया शरदिन्दु-चद्रिका,
अनादृता थी करती सरोज को
विलोचनों की प्रचलांचला[4] प्रभा।

(७८)

सु-चारु भ्रू की अमिताभ भंगिमा
अनग-चाप-च्छवि-मान मारती,
नृपागना - मेचक - केश - कल्पना
पयोद की भी सुषमा सँहारती।

---

[1] कामदेव। [2] आरक्त। [3] मान-हीना। [4] कनखियो तक चंचल।

(७९)

तले घनों के शरदिन्दु की प्रभा
तथा त्रिरेख-च्छवि कोक-द्वन्द्व भी,
पुनश्च रंभा-अरविन्द-युग्म से
विचित्र थी शिल्प-कला विरंचि की।

(८०)

समेत-तारल्य मनोज-चाप हो,
पयोज[1] में भी यदि हो अरालता[2],
निशेश मे जो वसती सुगंध हो,
विलोकिये तो त्रिशला-मुखोपमा।

(८१)

सरोज-सा वक्त्र, सु-नेत्र मीन-से,
सिवार-से केश, सुकंठ कंबु-सा,
उरोज ज्यों कोक, सु-नाभि भौंर-सी,
तरंगिता थी त्रिशला-तरंगिणी।

(८२)

अनूप धारा-सम रोम-राजि थी,
मनोज्ञ वीची[3] त्रिवली विराजती
सु-कर्ण थे तीर्थ-शिला-समान ही,
पयस्विनी थी त्रिशला सुशोभिता।

---

[1]कमल। [2]भंगिमा। [3]लहर।

(८३)

सरोज-लक्ष्मी[1] कर मे विराजती
सु-ओष्ठ-विंब-च्छबि चूमती हुई,
निशेश न्योछावर आस्य[2] पै हुआ
प्रवाल[3]-शोभा पद छू सुखी हुई।

(८४)

मुखाम्बुज-क्षोद सु-तीर्थ-अंबु-सा,
सु-दन्त ज्यों अक्षत, नेत्र कंज-से,
उरोज थे उन्नत नारिकेल-से,
अनंग-पूजा-समिति-प्रभा लसी।

(८५)

विलोचनों में श्रुति[4]-सर्पिण प्रभा,
पदाब्ज मे यावक[5]- दर्पिणी प्रभा,
कराग्र मे उत्पल-अर्पिणी प्रभा,
नृपालिका थी रति-तर्पिणी[6] प्रभा।

(८६)

उसे अलंकार-प्रकार भार थे,
उरोज थे भार, सरोज भार थे;
सु-केश थे भार, नितंब भार थे,
बनी इति-श्री[7] वह सौकुमार्य्य की।

---

[1]शोभा। [2]मुख। [3]मूँगा। [4]कान। [5]महावर। [6]तृप्त करनेवाली। [7]पराकाष्ठा।

(८७)

नृपाल पत्नी-प्रति प्रेम में पगे,
जभी शिखा से पद लौं विलोकते
निपात होता महि मे न दृष्टि का
पुनः शिखा लौं नख से निवर्तती[1]।

(८८)

अनूप लावण्य-समुद्र-उद्भवा
मनोज रत्नावलि-सी नख-प्रभा,
अलक्त[2] से रंजित शोभना लसी
मृगांक[3]-श्री-खंड[4]-विलिप्त रश्मि-सी।

(८९)

नितम्ब-संपीडित पाद-युग्म मे
मनोहरा मेचक-नूपुरावली
विराजती थी त्रिशला-पदाब्ज मे,
स-रोष भ्रू की जिस भाँति भंगिमा।

(९०)

सु-वर्ण-मंजीर[5]-मयी सु-शोभना
मनोज जंघा-लतिका-द्वयी लसी,
यथैव शाखा युग सौकुमार्य की
प्ररूढ़ हो कुंकुम से विलेपिता।

---

[1]लौटती। [2]महावर। [3]चंद्रमा। [4]लाल चंदन। [5]बिछुवे।

(९१)

महान-मुग्धा-वनिता-वरांग मे
असेत केशांकुर यों विराजते,
धरे गये तर्पण-हेतु काम के
नितान्त काले तिल स्वर्ण-पात्र में।

(९२)

मनोज की उत्तम रंग-पीठ-सी
श्रृंगार के विष्टर[1]-सी सु-वर्णिनी,
ललाम-लावण्य-प्रसार-पंक्ति-सी
प्रशंसनीया जघन-स्थली लसी।

(९३)

निबद्ध कांची कटि मे मनोज्ञ थी,
यथैव गंगा-गत सारसावली[2],
स-दर्प बाँधी अथवा मनोज ने
द्वितीय मौर्वी[3] निज चाप मे यथा।

(९४)

नितम्ब को देख नृपाल-चित्त मे
अनूप ऐसी-कुछ तर्कना उठी
लसी शिलाएँ युग चंद्र-कान्त की
कि मंजु चक्र-द्वय हों मनोज के।

---

[1]विस्तर। [2]कमलश्रेणी। [3]प्रत्यंचा।

(९५)

लसी प्रभा पेशल[1] पृष्ठ-भाग की,
प्रशस्त हो हाटक[2]-पट्टिका यथा;
कि पत्र रंभा-फल का विराजता
अनूप दो-श्रीफल-मध्य मे उगा।

(९६)

प्रविष्ट हो श्यामल रोम-वल्लरी
विराजती थी तट नाभि-रंध्र[3] के,
कि मेखला[4] की मणि से विताडिता
असेत लेखा तम की प्रकाशती।

(९७)

सवार होके कुच-कुंभ-यान पै
नृपाल की दृष्टि भ्रमी इतस्तत।
न पा सकी पार प्रकाश-सिंधु का
समा गयी नाभि-समान भौंर मे।

(९८)

नृपेन्द्र ने कामिनि-मध्य-देश को
विलोकते ही निज दृष्टि दूर की।
गिरे नही ईक्षण[5]-भार से कही
सु-मध्य मे संस्थित अस्ति-नास्ति के।

---

[1]कोमल। [2]स्वर्ण। [3]छिद्र। [4]करधनी। [5]दृष्टि।

(९९)

न था, अहो !, हीरक-हार वक्ष पै
लसा घटी-यंत्र सु-नाभि-कूप में;
अनूप लावण्य-कमंध[1] से जिसे
अवश्य था यौवन-वृक्ष सींचना।

(१००)

जिगीषु[2] कामावनि-पाल की कुटी,
न कंचुकी उच्च उरोज पै लसी,
बनी स-वस्त्रा रति-नाथ-शत्रु के,
अहार्य[3] पै जीत समस्त मोदिनी।

(१०१)

उरोज-सविद्ध नृपाल-चित्त में
महान इच्छा सुत-प्राप्ति की जगी,
विभिन्न जो है करते निजांग को
परांग के छेदक निर्व्यथा[4] वही।

(१०२)

नलोपमा,[5] अक्षवती[6], स-ऊर्म्मिका,
मनोहरा, सुन्दर-पर्व[7]-संकुला,
नरेन्द्र-जाया-कर-अंगुली लसी
कथा महाभारत के समान ही।

---

[1]पानी। [2]जीतने की इच्छावाली। [3]पर्वत। [4]बिना कष्ट के। [5]नल की लकड़ी या राजा विशेष। [6]चौसर। [7]पोर।

(१०३)

विराजमाना दश अंगुलीय[1]की,
परम्परा-सी सुम-चाप-लक्ष्य की,
प्रकोष्ठ मे कंकण था लसा, यथा
प्रसून-ज्या मंजु प्रसून-बाण की।

(१०४)

मृणाल से बाहु, अशोक-पत्र-से
लसे करो के तल भूप-नारि के,
यथैव पुष्पेषु[2]-शरासनस्थ हो
सरोज के पल्लव रक्त-वर्ण के।

(१०५)

सुनी सुधा-मंडित-माधुरी-धुरी
जभी सु-वाणी त्रिशला मुखाब्ज से
पिकी कुहू-रोदन मे रता हुइ,
प्रम्लव[3] भू मे परिवादिनी[4] बनी।

(१०६)

विलोक योपा म्रियमाण हो गये
नृपेन्द्र पुष्पेषु-इषु-प्रहार से,
मिली प्रिया के मुसकान की सुधा
जिये, हुये उत्थित भूमि-अंक से।

---

[1]अगूठी। [2]कामदेव। [3]लेट गयी, अपमानित हो गयी। [4]वीणा।

(१०७)

न इन्दु भी है त्रिशला-मुखेन्दु-सा,
असार सारी कवि-कल्पना हुई,
कटाक्ष-भ्रू-भंग कहां सुधांशु मे
प्रसाद[1]-कोपादि कहाँ शशांक में ।

(१०८)

विलोकते ही त्रिशला मुखेन्दु को
नृपाल के नेत्र चकोर हो गये,
परन्तु ज्यों ही क्षण-एक के लिये
पुन. विचारा भ्रम व्यक्त हो गया ।

(१०९)

कहाँ प्रिया के मुख की महा प्रभा,
वराक[2] शुभ्रांशु[3] कहाँ, न तुल्यता,
कलंक से श्रीत्रिशलास्य हीन था
स-दोष दोषाकर[4] विश्व-ख्यात है

(११०)

समुद्र मे जन्म, मलीन प्रात मे,
सदैव न्यूनाधिक, राहु-ग्रस्त भी,
वियोग में दु.खद चक्रवाक को
न अब्ज[5] भी था त्रिशला मुखाब्ज-सा ।

---

[1]प्रसन्नता । [2]बेचारा । [3]चंद्रमा । [4]चंद्रमा । [5]चंद्रमा ।

(१११)

सरोज-द्रोही, रस-शून्य-देह है,
सुगंध से हीन शशांक ख्यात है,
न साम्य पाती त्रिशला-मुखेन्दु का
मलीमसा[1] प्राकृत चद्र की कला।

(११२)

द्विधा किया चन्द्र विरचि ने यदा
मनोहरा की रचना कपोल की,
मृगाक[2]-निः[3]ष्यदित-विन्दु से तदा
महा मनोज्ञा रदनावली रची।

(११३)

अनूप ताली[4]-दल से मनोज्ञ वे
सु-कर्ण थे शाण कटाक्ष-वाण के।
मनोज्ञ नासा सित-मौक्तिकान्विता,
सुलेख्य तूणीर[5] प्रसून-पुंख[6] का।

(११४)

शशांक के मंडल मे सरोज दो
प्ररूढ होते यदि, तो अवश्य ही
कवीन्द्र पाते बहु कष्ट के विना
महामनोज्ञा त्रिशला-मुखोपमा।

---

[1]मैली। [2]चद्रमा। [3]निकला हुआ। [4]ताड़-वृक्ष। [5]तरकस। [6]कामदेव।

(११५)

असेत वेणी[1] बन सर्पिणी-समा
नितम्ब से मस्तक पै चढ़ी हुई
सिँदूर-जिह्वा अपनी पसारती
मुखेन्दु-पीयूष-रसावलेहिनी[2] ।

(११६)

न सृष्टि थी प्राकृत अब्ज-योनि[3] की
मनोरमा श्री त्रिशला सुलोचना,
स्वरूप की संपति और ही बनी
अनन्य-चातुर्य्य-परंपरा-मयी ।

(११७)

अमूर्त, तो भी, कटि मूर्त तंत्र[4] थी,
अशक, तो भी, तरला सु-दृष्टि थी,
अहो, अलंकार-विहीन अंग की
महा मनोहारिणि अंगना लसी ।

(११८)

यथा-यथा भूप धँसे हृदब्धि में
तथा-तथा कंज-उरोज भी बढ़े,
यथा-यथा अब्ज-पयोज[5] यों हँसे
तथा-तथा नेत्र-सरोज भी बढ़े ।

---

[1]चोटी । [2]चाटनेवाली । [3]ब्रह्मा । [4]तार । [5]चंद्रमामें उत्पन्न कमल ।

(११९)

सरोज था, या मुख था, कि इन्दु था,
सु-मीन थे नेत्र, कि काम-बाण थे,
सु-गुच्छ थे, या खग थे, उरोज वे
तडिल्लता[1] थी त्रिशला कि तारिका।

(१२०)

न देव-कन्या वह थी, न किन्नरी
अनूप गंधर्व-कुलोद्भवा न भी,
विरंचिका भी तप किन्तु रूप से
प्रणाश[2] में श्री त्रिशला समर्थ थी।

(१२१)

मनोज्ञ भ्रू कार्मुक[3] के समान थी,
कटाक्ष भी थे इषु-तुल्य तीक्ष्ण ही,
नृपाल के चंचल-चित्त-वेध में
नृपालिका भील-वधू-समा लसी।

(१२२)

अतंद्र-चंद्राभरणा मनोज्ञ थी
महा समुद्दीपित-मन्मथा तथा,
अनूप-तारा-तरला-नृपाल की
वधू लसी शारद[4]-शर्वरी-समा।

---

[1]बिजली। [2]नाश। [3]शरासन। [4]शरद्-ऋतु की।

(१२३)

सु-ओष्ठ पीयूष-भरे हुये लसे,
सु-वाक्य पीयूप-भरे हुये लसे
सु-नेत्र पीयूप भरे हुये लसे,
सु-वक्ष पीयूष भरे हुये लसे।

(१२४)

स-तारिका, अभ्र-विहीन रात्रि-सी,
मनोरमा सुन्दरता-निकुंज-सी,
तमिस्र-ज्योत्स्ना-मय भूप-भामिनी
निकेत के प्रांगण[1] मे विराजती।

(१२५)

विलोकने को यदि अब्ज-योनि ने
दृगब्ज[2] दो जो महि-पाल को दिये,
नृपालिका के सुषमा-समूह को
न था बहाना कि न हो धरित्रि मे।

(१२६)

समस्त-सौन्दर्य्य-समावृतांगना
नृप-प्रिया सुन्दरताऽनभिज्ञ[3] थी,
बसी महीपाल-रसाल-चित्त मे
लसी स्वय सुन्दरता-स्वरूपिणी।

---

[1]आँगन। [2]नेत्र-कमल। [3]अनजान।

(१२७)

नृपालिका के हँसते कपोल पे
प्रतीत होता लघु एक गर्त-सा
विचार उन्मज्जक[1]-से नृपाल के
न लौट पाये उस गाढ सिंधु-से

(१२८)

वसन्त-प्रत्यूप, शरद्दिनान्त से
सजे हुए सुन्दर अंग-अंग थे,
पिशंग[2] हेमन्त-समान मौलि पै
सहस्र-वर्षा-ऋतु-रूप-रंग थे।

(१२९)

वता रहा घूँघट था कि राजता
यथार्थ सौन्दर्य्य प्रगाढ कुंज मे
जहाँ जभी दो मन मेल खा गये
कि प्रेम-कर्ता वन प्रेमिका गया।

(१३०)

मनोरमा सुन्दरि कान्त-कुंज-सी
कपोत के कूजन से निकूजिता,
कि पक्ष-गुप्ता[3] कल-हंसिनी-समा
सुरांगना थी वह छद्म-वेपिणी।

---

[1]गोता खोर। [2]पीला। [3]जिसके पख अदृश्य हो।

(१३१)

विभावरी[1]की वर कर्णिका-समा
मनोज्ञ थी चंद्र-कपोल-रजिनी,
स्वकीय-सौन्दर्य्य-प्रभूत कान्ति से
विमण्डिता थी वह भूप-भामिनी ।

(१३२)

शरीर था कुंकुम-पंक से रचा,
उरोज पै कंपित-हार-भार था ।
पदाब्ज में नूपुर हंस-शब्द के,
प्रिया[2] न होती त्रिशला महीप को ?

(१३३)

न हाथियो से, हय से, हिरण्य से,
न धाम से, या धन से, धरित्रि से,
नृपाल सिद्धार्थ समृद्धिवान थे
अखंड-सौभाग्यवती-स्वनारि से ।

(१३४)

मुखेन्दु से जो उडुराज-सी लसी,
सुमध्यमा जो मृगराज-सी लसी,
मनोरमा सो नृपराज की प्रिया
सु-चाल से थी गजराज-सी लसी ।

---

[1]रात्रि । [2]प्यारी ।

(१३५)

प्रदीप को अंबर-वात[1] से मुदा
सदैव निर्वाण[2]-प्रदान-सक्त थी,
अवाप्त[3] थी भूपति को स्व-भाग्य से
विमोक्ष-मूला त्रिशला मनोरमा।

(१३६)

मनोज ने भी निज पुष्प-त्राण से
हृदेकता[4] दंपति को प्रदान की
कठोरता आयुध-तीक्ष्णता बिना,
कुमार का संभव मार[5] ने किया।

(१३७)

नृपाल-जाया-उर-रंग-मंच पै
शृँगार-लीला सरसानुपत्ति[6] का
हुआ पटाक्षेप, अहो ! नवाक पै
मनोज-से नाटक-सूत्रधार का।

(१३८)

वसन्त से आम्र-लता छुयी गयी,
फँसी कुरंगी दृढ़-बाहु-जाल में,
ग्रसा गया इन्दु तुरन्त राहु से
शराग्र[7] से मौक्तिक विद्ध हो गया।

---

[1]अंचल की हवा। [2]बुझाना। [3]प्राप्त। [4]हृदय की एकता। [5]कामदेव।
[6]उत्पत्ति। [7]बाण की नोक।

(१३९)

कपूर-सा दग्ध हुआ, तथापि जो
प्ररोहता प्राणि-शरीर मे सदा,
वही विलासी रति-रग-मच का
त्रिलोक-जेता स्मर सूत्र-धार है।

[मालिनी]

(१४०)

जय रति-पति ! तेरी हो, तुझे सर्वदा ही
कुलगुरु अबलाएँ मानती केलि मे है,
पर, अब जिस प्राणी को, सखे ! जन्म देगा,
वह विजित[1] तुझे भी भूमि मे आ करेगा।

---

[1]परास्त।

दूसरा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

लखा जभी अच्युत-स्वर्ग[1]-इन्द्र की
समाप्ति को है अब आयु शीघ्र ही,
सु-धर्म-वज्री[2] पट् मास पूर्व ही
कुबेर से यो कहने लगा सुधी –

(२)

"प्रयाण, हे हे अलकेश ! आशु ही
नृपाल-सिद्धार्थ-निवेश को करो,
वही, पुन भारत-क्षेत्र मे, सखे !
सु-जन्म होगा अब अच्युतेन्द्र का।

(३)

"नवीन तीर्थंकर वर्द्धमान के
सु-नाम से ले अवतार भूमि मे,
समुच्च दे केवल[3]-ज्ञान विश्व को
मुदा करेंगे अति पूज्य मेदिनी।

---

[1]स्वर्ग विशेष। [2]इन्द्र। [3]पूर्ण ज्ञान, कैवल्य।

(४)

"अजस्र वर्षा वहु रत्न की करो।
अनेक आश्चर्य्य दिखा नरेश को,
नृपाल - जाया - त्रिशला - हृदब्धि मे
भरो महा रत्न अभूत स्वप्न के।"

(५)

सु-धर्म-स्वर्गेन्द्र-निदेश से तथा
मनुष्य-धर्मा[1] द्रुत भूमि को चला।
स-रत्न धारा नृप-गेह-शृंग पै
अजस्र होने प्रति वार ही लगी।

(६)

कुबेर-संयोजित मेघ-मंडली
अनूप धारा नव-रत्न-राशि की
गजाग्रणी[2] के पृथुलाग[3]-शुंड-सी
विदेह मे आकर वर्षने लगी।

(७)

सु-धर्म पुण्य-प्रद कल्पवृक्ष के
प्रभाव से रत्न-सुवर्ण-सयुता
अतीव वर्षा षट् मास लौं हुई
नृपेन्द्र-सिद्धार्थ-निवास-भूमि पै।

---

[1]कुवेर। [2]ऐरावत। [3]मोटा।

(८)

सु-काल मे वर्पण वारि-वाह का
सुवर्ण-वर्पा सब लोक मानता,
जिनेन्द्र का आगम, पुत्र-रत्न हो,
सुरत्न-वर्पा-सम गण्य क्यो न हो ?

(९)

सु-पर्व[1]-गगा-जल-सिक्त व्योम से
प्रसून सद्याहृत[2] कल्प-वृक्ष के
गिरे, हुआ धाम सुरेन्द्र-धाम-सा
महा-महाराज विदेह-नाथ का।

(१०)

प्रदीप्त माणिक्य प्रतप्त स्वर्ण-से,
अभेद्य हीरे, दिन-नाथ-रश्मि-से,
तथैव वैदूर्य्य[3] सु-वाहु-रत्न[4] भी
मरक्त[5] नीलाश्मक[6] वर्पने लगे।

(११)

तदा गिरे पीतिम पद्मराग भी,
झडी महा रक्तिम विद्रुमावली[7],
अजस्र ही मौक्तिक श्रेणियाँ गिरी
सु-रत्न-गर्भा विलसी वसुन्धरा।

---

[1]स्वर्ग-स्थित। [2]ताजे लाये हुये। [3]लहसुनिया। [4]गोमेद। [5]मरकत। [6]नीलम। [7]मूंगा।

(१२)

निवेश सिद्धार्थ धराधिनाथ का
लसा धरा मे ग्रह-चक्र-सा अहो !
त्रिविष्टपाधिष्ठित[1] वर्द्धमान के
सु-भाग्य की सपति-शालिमा, लखो ।

(१३)

प्रभाव देखो यह जैन-धर्म का
लखो अहिंसामय-शक्ति-प्रेरणा,
विलोक लो केवल-ज्ञान-ऊर्जना[2]
निहार लो अर्चन वर्द्धमान का ।

[द्रुत विलंबित]

(१८)

इस प्रकार दयामय देव के
सुभग आगम की कर सूचना,
चल कुबेर पड़े सुर-लोक को
गगन में सुर-राज[3] दिखा पड़े ।

---

[1]स्वर्ग-स्थित । [2]प्रकृष्टता । [3]इन्द्र (मेघ) ।

[वंशस्थ]

(१५)

अनूप आपाढ़ घनावली घनी
घिरी हुई थी अति मोद-दायिनी
निसर्ग - संपत्ति - विधायिनी मुदा
मनोज्ञ वर्षा-ऋतु वर्तमान थी।

(१६)

मनोज-हस्ती-सम वारि-वाह[1] थे,
वलाक[2]-श्रेणी सित दंत-पंक्ति थी,
विराजती अंकुश-सी क्षण-प्रभा[3]
झड़ी बँधी मंजु मदाम्बु-धार की।

(१७)

"सु-कामिनी जो अब मानिनी रही,
मनोज की है अपराधिनी वही"।
चतुर्दिशा दामिनि-व्याज व्योम में
समा गयी काम-नृपाल-घोषणा।

(१८)

पयोद ने शुभ्र-सुधांशु-बिंब को,
तमिस्र ने चंड दिनेश-दीप्ति को।
नभस्थली ऋक्ष[4]-समूह खा गयी
अतः हुआ रोदन-घोष सर्वश।

---

[1]मेघ। [2]बगुला। [3]बिजली। [4]तारागण।

(१९)

नृपाल के निद्रित काम-भाव को
जगा रहे थे उस काल मेघ यों
अतीव थी ऊर्जित-घोषणा-भरी
दशों दिशाएँ बहु घोष[1]-संयुता।

(२०)

निसर्ग सारा अति-अंबु-शैत्य से
स-कंप शीत-ज्वर-ग्रस्त हो गया।
महान नीरध्र[2]-पयोद-व्याज से
विहाय[3] में कंबल ओढ सो गया।

(२१)

कि पिंगलाभासित इन्द्र-गोपका
वियोगिनी के वह रक्त-वान्त-सी,
विराजती थीं महि मे इतस्तत,
सँयोगिनी-चित्रित-चैल[4]-खंड-सी।

(२२)

अजस्र[5] धारा गिरती पयोद से
कलापियों[6] के गण नृत्य-लीन थे,
अभी करेंगे सधवा-समूह के
कृतान्त[7] या कान्त समाप्ति दुःख की।

---

[1]शब्द। [2]मोटा बिना हुआ। [3]आकाश। [4]चुनरी। [5]निरंतर। [6]मयूर। [7]यम।

(२३)

पयोद जैसे निज दान-मान से
बना रहे मुग्ध मयूर-वृन्द को,
तथैव कदर्प स्व-मान-दान से
बना रहा उग्र युवा-समूह को।

(२४)

अनेक-रागान्वित,[1] स्थैर्य्य-हीन भी,
अजस्र दुष्प्राप्य, गुणादि-हीन भी,
नवागना के रस-सिक्त चित्त-सा
बना रहा प्रावृट्[2] इन्द्र-चाप को।

(२५)

लखो, महा धूसर धूलि से हुआ
प्रमोद देता किसको न खेल से,
स-पुत्रिका[3] के पट-सा विलोकिये,
मलीन है अबर वारि-वाह से।

(२६)

महान वर्षा यह हो रही, लखो,
सु-वर्ष[4] से वासर दीर्घ हो रहा,
सभी दिशा, नीर-तरग-युक्त है,
महीप क्यो नीरत-रग[5] हो नही।

---

[1]रग-युक्त। [2]वर्षा-ऋतु। [3]पुत्रवती। [4]वर्षा अथवा वर्ष। [5]काम-हीन।

(२७)

नरेन्द्र भी यौवन-युक्त है तथा
बधू महा-प्रौढ-पयोधरा लसी,
इसीलिए संगम-लालसान्विता
तरंगिणी-सी त्रिशला लसी तभी।

(२८)

कदम्ब में मुग्ध-लसे प्रसून है,
प्रसून में मंजु मरंद[1] सोहता,
मरंद में लुब्ध मिलिन्द-यूथ है,
मिलिन्द में भी मदनानुभूति है।

(२९)

प्रहृष्ट है कामुक चक्रवाक भी,
प्रकृष्ट नृत्यार्दित[2] है कपोत भी,
प्रकर्ष को है पिक प्राप्त हो रहे,
पिकी, कपोती, लख, चक्र-वालिका।

(३०)

पयोद गर्जे, जल-धार भी गिरे,
तडिल्लता[3] अंबर में अशान्त हो,
महीप को क्या भय था, निकेत में
प्रिया महा ओषधि-सी विराजती।

---

[1]पराग। [2]नृत्य से तरल-चित्त। [3]विजली।

[द्रुत विलंबित]

(३१)

जिस प्रकार पयोधर अक मे
मचलती तडिता अनुरक्त हो,
उस प्रकार समीप नृपाल के
विलसती त्रिगला अति मुग्ध थी।

[वंशस्थ]

(३२)

महीप बोले प्रिय चाटु-उक्ति[1] से
"प्रिये! धनुर्धारिणि तू विशिष्ट है;
कलंब[2]-ज्या-हीन शरास[3] से, अहो!
वना रही है मन विद्ध मामकी।

(३३)

"सु-दृष्टि कृष्णार्जुन[4] से प्रसक्त है,
तथापि जाती यह कर्ण[5]-पास ही,
प्रिये! नही विश्वसनीय चाल है,
विलोचनो की चल-चित्त-वेधिनी।

---

[1]खुशामद। [2]वाण। [3]धनुष। [4]काला और सफेद अथवा नाम विशेष।
[5]कान या नाम विशेष।

(३४)

"समेत है यद्यपि ओष्ठ-पत्र भी
सु-हास-पुष्पोद्‌गम[1] से, मनोरमे !
विलोकते ही तुझको, सुधानिधे !
विलोचनों को फल प्राप्त हो रहा।

(३५)

"नतांगि[2] ! तेरे युग-चक्षु कंज-से
सदैव है तत्पर चौर-कर्म में,
न रात्रि को ही मन चित्त लूटते,
विपत्ति भी है दिन को न छोड़ते।

(३६)

'सरोज क्यों तू रखती स्व-कर्ण पै
रहस्य क्या है कल-भाषिणी, प्रिये !
न मैं हुआ किंचित रुष्ट, उत्तमे !
न आज पर्य्याप्त[3] अपांग-पात क्या ?

(३७)

"स्वदृष्टि कंजायत-लोचने ! मुझे
प्रदान, वामे ! करदो अवश्य ही,
सुना गया भूतल में जहाँ-तहाँ।
'विषस्य, रामे ! विषमौषधं'"[4] अये !

---

[1]वसन्त। [2]नत अंग वाली। [3]काफी। [4]विष की औषधि विष है।

(३८)

"विलोक के मार्दव[1] अंग-अंग का
प्रतीत होते मुझको, वरानने !
कठोर हैं अंगुक, अंशुमत्फला[2],
अगाक-लेखा, नव मालतीलता ।

(३९)

"त्वदीय पाताल-समान नाभि है,
उरोज हैं उच्च नगाधिराज-से ।
मनोज्ञ वेणी इस भाँति है लसी ।
कलिन्दजा का विनिपात हो यथा ।

(४०)

"सरोज से संभव[3] है सरोज का
सुना गया किंतु न दृष्टि-गम्य है ;
परन्तु तेरे मुख-पुंडरीक में
विलोकता हूँ युग पारिजात मैं ।

(४१)

"अनूप आवर्त[4] समान नाभि है,
मनोज्ञ हैं लोचन पारिजात-से,
तरंग-से हैं वलयादि[5] भासते,
मनोज की सुन्दर, अंबु-वापिके ।

---

[1]मृदुता । [2]केसर, पराग । [3]जन्म । [4]भौंर । [5]चूड़ी आदि ।

(४२)

"अपाग से अंकुरिता सदैव हो,
सु-वाक्य से पल्लविता बने सदा,
सुपुष्पिता मंजुल हास से रहे
फले मदिच्छा[1] तुझको विलोक के ।

(४३)

"चुरा लिया है युग-मेरु-कान्ति, तो
उरोज का गोपन[2] नीति-युक्त है
परन्तु पाता विधु मान मौलि से
अत. छिपाना उसको अयोग्य है ।

(४४)

"प्रिये ! सदा पूर्णतया मनोहरा
कलंक-हीना छवि देख आस्य[3] की
स-लज्ज भागा विधु उच्च व्योम से
समुद्र मे डूब मरा अधीर हो ।

(४५)

"मनोज्ञ है आनन फुल्ल-पद्म-सा
प्रिये ! जपा[4]-पुष्प-समान ओष्ठ है,
विलोचनों की छवि निद्र-कंज-सी
प्रसून के सचय-सा शरीर है ।

---

[1]मेरी इच्छा । [2]छिपाना । [3]मुख । [4]गुडहल का फूल ।

(४६)

"सुमंद, वामे ! पद सौरि[1]-से लसे
सुकेश, भामे ! शित[2] सेंहिकेय[3]-से,
तथैव है यौवन की समुच्चता
महान वक्षोज-गुरु-प्रताप-सी ।

(४७)

"त्वदीय आलिगन-हेतु, हे प्रिये !
हुआ न क्यो आज सहस्रवाहु[4] मैं,
विलोकने को छवि अंग-अंग की
वना न क्यो, देवि ! सहस्र-चक्षु[5] मैं ?

[द्रुत विलंबित]

(४८)

"मुख लसा उडुराज-समान ही
कटि बनी मृगराज-समा, अहो !
गति, प्रिये ! गजराज-विडंबिनी
कर रही मुझको निज दास है ।"

[वंशस्थ]

(४९)

महीप के काम-प्रसक्त वाक्य से
स-वेग तारल्य-युता हुई प्रिया,
वसन्त का स्पर्श हुआ कि आम्र का
शरीर सर्वांग-प्रफुल्ल हो गया ।

---

[1]शनैश्चर । [2]काला । [3]राहु । [4]राजा विशेष । [5]इन्द्र ।

(५०)

हुयी तभी सो भुज-पंजर-स्थिता
समाकुला बाल-कुरंग-शावकी,
नितान्त शुक्लाम्बरा[1] थी अभी-अभी
निरंबरा[2] भूपति-भामिनी हुई।

(५१)

विलोकना, सन्मुख भी न देखना,
निषेध भी सम्मति से प्रकाशना,
महीप को उत्तर मौन-मात्र से—
नवांगना का नव केलि-मार्ग था।

(५२)

उरोज थे उन्नत उग्र[3]-रूप-से,
स-हार-गंगा-धर[4] थी मनोरमा,
बनी अहो! मंजुल चंद्र-चूड[5] सी
निरम्बरा भामिनि भूमिपाल की।

(५३)

स-हास आयी उस काल देवियाँ,
सुरेन्द्र से प्रेरित, स्वर्ग से चली,
हुयी प्रविष्टा त्रिशला-वरांग मे
अदृष्ट थी कामुक भूमि-पाल से।

---

[1]श्वेतवस्त्र वाली। [2]वस्त्ररहित। [3]शंकर। [4]श्वेतहार रूपी गंगा। [5]चूडा मे चंद्रमा लगाये हुये, शंकर।

(५४)

मुखाग्र मे कीर्ति धँसी प्रमोद से
उरु-स्थिता हो धृति शोभने लगी
प्रवेश ह्री ने मुख-मार्ग से किया
निवास श्री ने स्मर-धाम म लिया ।

(५५)

महान शोभामयि वर्ण-मातृका[1]
ललाट मे विष्ट हुई तुरंत ही ,
सु-कुक्षि के शोधन मे महाशुभा
अनूप क्षीरोद-सुता[2] प्रवृत्त थी ।

(५६)

उसी घडी अच्युत-इन्द्र-जीव भी
प्रलंब उल्का-सम स्वर्ग से चला,
सभा सुधर्मा-सद देव-वृन्द ने
स-शब्द सानद विराव[3] यो किया —

(५७)

"पवित्रतापूरित आर्य्य-देश है,
विदेह का भू-तल भाग्यवान है,
जहाँ महा-दारुण-कर्म-जाल के
कृतान्त[4] तीर्थंकर जन्म ले रहे ।"

---

[1]सरस्वती । [2]लक्ष्मी । [3]घोष । [4]नाशनेवाले ।

(५८)

पुरूरवा, रोचक, दक्ष देवता,
प्रभास, आभास्वर, सोम, हंस[१] भी
समूढ़ हो तुम्बुर, नन्दि आदि ने
मुदा विदा दी जिनराज-जीव को ।

(५९)

स- नृत्य थी सुन्दरि गीत-मोदिनी[२]
स-गान रंभादिक स्वर्ग-सुन्दरी,
जलेश, वारेश्वर, किन्नरेश भी
स-हर्ष, सानंद, स-मोद सर्व थे ।

(६०)

तरंगिता मंजु सुरापगा हुई,
समीर भी नंदन-कुंज से चला,
चला जभी जीव महेन्द्र-लोक से
त्रिलोक-संपूजित वर्द्धमान का ।

(६१)

जिनेन्द्र का जीव चला जभी, अहो !
ख-गोल मे एक प्रकंप आगया,
भ-चक्र[३] का अस्थिर अक्ष[४] देखके
द्यु-लोक से ऋक्ष-निपात हो चला।

---

[१]देवताओं के नाम। [२]किन्नरी। [३]तारामंडल। [४]धुरा।

(६२)

प्रदीप्त उल्का जिस भाँति से गिरे
ख-गोल से भू-पर तीव्र वेग से,
यथैव ज्योतिर्झष[1] ऊर्ध्व-भाग से
समुद्र-द्वारा तल में निविष्ट हो—

(६३)

हिला तभी आसन कर्म-देव का,
मिला न आश्वासन पाप-लोक को,
खिला महामानव-धर्म कंज-सा,
जिनेन्द्र-आत्मा च्युत[2] भूमि में हुई।

(६४)

निमेष[3] साधे, निज साँस बाँध के,
समस्त तारे लखते निपात थे,
सुरापगा-धार-समान जीव सो
गिरा सुधा-दीधिति[4]-शृंग पै जभी।

(६५)

समा सका सो न निशाधिनाथ में
प्रभेद[5] दे, भू-तल ओर को बढ़ा,
गिरा शलाका-सम चंद्र-लोक से
हुआ तभी से शित[6] छिद्र इन्दु में।

---

[1]प्रकाश करनेवाली मछली। [2]निपतित। [3]पलक। [4]चंद्रमा। [5]छिद्र। [6]काला।

(६६)

मनोज्ञ-आषाढ-सिताख्य पक्षकी
पवित्र षष्ठी तिथि वर्तमान थी;
उदात्त नक्षत्र कलब[1] नाम का
उगा हुआ था निशि-अंतरिक्षमें।

(६७)

स-दर्प कादंबिनि[2] गर्जने लगी
स-हास सौदामिनि तर्जने लगी,
नृपाल-जाया रति-रंग-तृप्त हो
धरित्रि-सी वर्षण वर्जने लगी।

(६८)

विलोक सिद्धार्थ-पयोद-अंक मे
प्रकंप-पूर्णा त्रिशला क्षण-प्रभा,
कलंब[3]-संपात हुआ वनान्त मे
वरा वराकी नव-गर्भिता हुई।

(६९)

गिरी त्रिस्रोता[4] हर-मौलि-अंक से
हुयी तमोभूत अपेत[5]-बंध भी,
तडिल्लता चंचल हो उठी, अहो !
कुमोदिनी-युग्म प्रकंपमान थे।

---

[1]पूर्वाषाढ। [2]मेघ-माला। [3]जल। [4]गंगा। [5]मुक्त।

(७०)

सुरापगा-धार गिरी सुमेरु पै
तमिस्र[1] नाग-गण वर्षने लगे,
अकंप भृंगावलि हो गयी, अहो!
प्रशान्त शम्पा[2]-लतिका-विलास था।

(७१)

मनोज्ञ के नगर में मृगाक्षि के
उरोज भी पोकद-पूर्ण हो गये,
प्रसून-वर्षा-सम पुष्प-चापकी
समन्त[3] वर्षित स्वेद-राशि थी।

(७२)

उरोज निर्लेप बने मृगाक्षि के
सु-केश भी बंधन-हीन हो गये,
मनोज्ञ कांची[4] अति निर्गुणा[5] हुई
प्रव्राजिका[6]-सी विमला प्रतीत थी।

(७३)

नितान्त नीरंजन[7] नेत्र थे, तथा
विराग[8] से ओष्ठ हुये पवित्र थे;
महान निर्वेद[9] हुआ रतान्त मे
प्रशान्त साध्वी-सम थी नृपांगना।

---

[1]अंधकार। [2]बिजली। [3]चारों ओर। [4]करधनी। [5]टूट गई, गुणहीन। [6]नवीन-दीक्षित प्रव्रजिता। [7]अंजन-हीन। [8]रागहीनता। [9]विराग।

(७४)

पयोद-वर्षा अब हीन हो गयी
प्रचंड सौदामिनि लीन हो गयी,
तुरन्त षष्ठी तिथि अंत हो गयी,
नरेश-जाया रति-रिक्त हो गयी।

(७५)

दिनान्त-सध्या जिस भाँति पुष्प को
लपेटती है निज-ध्वान्त[१]-अक में,
तथैव निद्रा त्रिशला ललाम को
समेटती थी निज शान्त क्रोड[२] में

(७६)

विलोकिये तो, किस भाँति सुप्त है !
नरेन्द्र-पत्नी श्लथ[३] हो रतान्त में;
विलोचनो मे सुख यों समा रहा
मिलिन्द ज्यो पंकज-कोष-बद्ध हो।

(७७)

प्रसून थे श्री-शयनांक[४] में पड़े
नितान्त ही म्लान कपोल के तले;
परन्तु शोभा-मयि भाल-वर्तिनी
सु-भाग्य लक्ष्मी अति ही स-चेत है।

---

[१]अंधकार। [२]गोद। [३]शिथिल। [४]पलग।

(७८)

अहो ! अहो ! ! निद्रित भूप-भामिनी
नवीन-संजीवन-वद्ध-श्वास है,
अकंप व्यापा कि प्रसून-कुंज मे
कि पूर्ण-निस्तब्ध[1] निसर्ग हो गया।

(७९)

"प्रशान्त सो, तू अति शान्त सो, प्रिये !
त्वदीय रक्षा करते सुपर्व[2] है।
समस्त सौभाग्य समुच्च स्वर्ग से
समृद्धि-वर्षा-रत है ललाट पै।

(८०)

"निशीथ ! तू कोमल हस्त से मुदा
विलासिनी को सहला[3] स-प्रेम ही,
सदैव तेरा अधिकार नींद पै,
सदा फँसाता मन ध्वान्त-जाल में।

(८१)

"प्रशान्त सोती रह तू विलासिनी,
त्वदीय सौभाग्य-समीर प्रेम से
हिला रहा दिव्य भविष्य-वृक्ष है
अभी गिरेंगे फल स्वप्न-रूप में।

---

[1]निःशब्द। [2]देवता। [3]धीरे-धीरे हाथ फेरना।

(८२)

सु-स्वप्न वर्षा-ऋतु के, अहो ! अहो !
कहो प्रिया के जल-जात कर्ण मे
"त्वदीय प्रेमी-नृप जागरूक[1] है
समीप तेरे अब पाहरू बने।"

(८३)

"अये कुरंगायत-लोचने ! शुभे !
त्रिलोक-सौंदर्य्य त्वदीय वित्त है,
गुणावली-शोभित अंग-अंग मे
अनंग का, योषित ! अतरंग तू।

(८४)

"प्रभा शरच्चन्द्र-मरीचि-तुल्य है,
विभा[2] शरत्कंज-समान नेत्र की,
शुभा शरद्-हंस-समा सु चाल है,
विशाल तेरी छवि वाम-लोचने !

(८५)

"अतीत-स्नेह-स्मृति-सी मनोरमा
पवित्र बाल-स्तुति-सी सु-कोमला[3],
सुमानसी तू नवनीत-पेलवा[4]
नतांगि ! कान्ते ! ललिते ! वरांगने !

---

[1]जागृत। [2]प्रकाश। [3]कोमल। [4]मुलायम।

(८६)

"नरेश-भावोद्गत-नीर के लिए
प्रसुप्त तेरा मुख सिंधु-सा बना,
नरेन्द्र की जीवन-ह्लादिनी[1]-गता
प्रफुल्ल है वृत्ति प्रफुल्ल-कंज-सी।

(८७)

"समीर से सूक्ष्म विहग-रक्ष है,
कृपीट[2] है सूक्ष्म विहंग-पक्ष से,
परन्तु सु-भ्रू अति भूरि-भाविनी
प्रसिद्ध है सूक्ष्म कृपीट-योनि[3] से।

(८८)

कहा गया है, प्रमदा-अपांग ने
गिरा दिया मानव को द्यु-लोक से,
परन्तु वामा-हृदयाब्ज ने, अहो!
सदा बनाया दिव[4]-तुल्य भूमि को।

(८९)

"प्रफुल्लता और पवित्रता, तथा
विशुद्धता, शाश्वत प्रेम-भावना,
कहे गये जो गुण स्वर्ग-लोक के
लखे गये वे ललना ललाम में।

---

[1]तडाग। [2]धुआँ। [3]अग्नि। [4]स्वर्ग।

(९०)

"सुलक्षणा तू निज चाल-ढाल मे,
सुदेवता तू निज अंग-ढंग मे,
उषा-समा अंबर[1] से ढकी हुई
प्रकास-सी अंबर[2] में विराजती ।

(९१)

"यथैव तू सुन्दर, त्यों स-मिष्ट है,
यथैव है मिष्ट, तथैव कोमला,
यथैव तू कोमल, दिव्य भी तथा,
यथैव दिव्या उस भाँति देवता ।

(९२)

"विरंचि की केवल तू न चातुरी,
वरंच है मानस-मूर्ति मामकी;
नतभ्रु ! अर्धांगिनि तू बनी यथा
तथैव मेरा मृदु अर्ध-स्वप्न तू ।"

(९३)

नरेश, यों ही कुछ देर रात्रि मे
प्रसुप्त-वामांग निहारते रहे,
प्रगाढ़-तन्द्रा-वश मौलि-मध्यगा
अबंध-वेणी-छबि धारते[3] रहे ।

---

[1]आकाश । [2]कपडा । [3]धारण करते ।

(९४)

ललाट में आगत स्वेद-वृन्द भी
नरेश हाथों परिहारते रहे;
हटा-हटा आनन से अजस्र ही
मिलिन्द की भीड़ निवारते रहे।

(९५)

मृगांक-से आनन पै पड़ी हुई
पयोद-माला-सम केश-राशि को
सहेजते[1] भूपति बार-बार यों
स-जृंभ[2] शैथिल्य-समेत सो गये।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

मनुज जागृति में रत-धर्म है,
विगत-कर्म तथैव सुषुप्ति[3] में,
यदि कहीं सुख-स्वप्न प्रतीत हों
वह भविष्य-विधान[4]-समर्थ है।

---

[1]सम्हालते। [2]जम्हाई लेकर। [3]निद्रा। [4]निर्माण।

तीसरा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

निशीथ[1] था, अंबर ज्योति-हीन था,
तथैव, षष्ठी विधु अस्तमान था,
इसीलिए तारक-वृन्द मे तभी
प्रदीप्ति-आभा अधिकाधिका लसी।

(२)

गिरा, अहो ! अंजन अंतरिक्ष से
हुई तमोलिप्त सभी वसुंधरा;
अकंप हो पश्चिम-दिक्कलत्र[2] के
लसे मुदा संपुट-कंज कर्ण में।

(३)

निशीथिनी लासिक[3]-योषिता-समा
समागता अंबर-रंगभूमि में
मिलिन्द-जाया-मिष गान गा उठी
कुमोदिनी के सुम[4]-कुंज में, अहो !

---

[1]मध्य रात्रि का समय। [2]दिशा-रूपी स्त्री। [3]नट। [4]पुष्प।

(४)

विकीर्ण[१] - पुष्पांजलि - तारकावली,
तमोमयी - यावनिका[२]-तटस्थिता,
विराजती थी उडु-मंडलामुखी
विलासिनी द्वैपद[३]-लासिनीनिशा।

(५)

तमिस्र से श्यामल शैल हो गये,
अरण्य के पादप नील हो गये,
हुईं दिशाएँ शित[४] मेदिनी हुई
अभेद भू-अंबर-मध्य हो रहा।

(६)

निशीथ में लोचन व्यर्थ-से लसे,
यथा हुई संपति व्यर्थ सूम की,
हुये महापीड़ित जीव भूमि के
विषण्ण[५] हो ज्यों कु-नरेश की प्रजा।

(७)

तमिस्र मे पंकज क्षीण हो चुके,
यथैव विद्या व्यसनी मनुष्य की;
मिलिन्द भी कातर दैन्य-युक्त थे,
गुणी यथा दु:खित हो विदेश मे।

---

[१]बिखरे हुये। [२]पर्दा। [३]एक प्रकार का नृत्य। [४]काली। [५]दु:खी।

(८)

कि श्याम-हस्ती-[1]अजिनावृता मही,
कि एण[2]-नाभी-रस-लिपिता दिशा,
कि व्यांप्त काली मसि[3] अंतरिक्ष में,
कि भूमि आवेष्टित है तमिस्र से ।

(९)

पयोद सारे गत हो गये, तथा
समीर की भी लहरी समाप्त थी,
रही अपेक्षा[4] इनकी न रात को
तमिस्र सर्वत्र विराजमान था ।

(१०)

विषाद-माता-सम तामसी निशा
मही-सुता पै झुक ही पड़ी, अहो !
प्रकीर्ण[5] काले कच अंधकार के
हुये, समावेष्टन भूमि का किये ।

(११)

प्रकाश तारे करते न तेज का
वरंच थे वे तम ही दिखा रहे;
द्यु-लोक की भी द्युति क्षीण हो चली;
त्रिलोक-भक्षी घन अंधकार था ।

---

[1]त्वचा । [2]मृग । [3]रोशनाई । [4]आवश्यकता । [5]फैले हुये ।

(१२)

निशीथ-शोभा अवलोकनीय थी
लसी नभो-मंडित तारकावली,
शनै. शनैः पश्चिम दिग्विभाग मे
तमिस्र-आत्मा-गति मंद हो चली ।

(१३)

निशीथ था पूरित अंधकार से
कि पूर्ण था दिव्य प्रदीप्ति से तदा
समागता जो अनजान देश से;
यथैव अव्यक्त[1] तथैव व्यक्त[2] भी ।

(१४)

तमिस्र-पूर्णा उस मध्य रात्रि में
अमन्द एकान्त-प्रभा-प्रभास[3] मे
पढ़े गये पाठ द्वितीय लोक के
भविष्य-गर्भ-स्थित योगिराज से ।

(१५)

नितान्त-सुप्ता-त्रिशला-मन-स्थिता
निशीथिनी की महिमा महान थी,
हुई समाकर्षित रात्रि-राग[4] से
तुरन्त ही जीवन-सिद्धि स्वप्न में ।

---

[1]छिपे हुये । [2]खुले हुये । [3]शोभा । [4]प्रेम ।

(१६)

"त्वदीय निद्रा, त्रिशले ! सुखान्त है,
कि स्वप्न की सस्थिति रग-मच है,
जभी उठेगा पट मातृ-भाव का
सु-पात्र[1] होगा सुन विश्व-नाट्य का।"

(१७)

किया जभी निस्वन[2] ऋक्ष-वृन्द ने
निशीथ के वालक, स्वप्न नाम के,
प्रबुद्ध होके त्रिशला-हृदब्ज में
मिलिन्द-से गुजन-शील हो गये।

(१८)

सुषुप्ति के पूर्ण-प्रशान्त सिंधु में
तरी[3] चली स्वप्न-मयी सुहावनी;
सु-भाग्य तारा ध्रुव-सा अकंप था
सु-मत्र-आकीलित-ध्वान्त-व्योम में।

(१९)

प्रशान्त निद्रामय देव-लोक के
सु-स्वप्न कैसे त्रिशले ! सुदृश्य हैं।
परन्तु तेरे अतिरिक्त भूप भी
न हैं अभी दर्शक रग-मंच के।

---

[1]नायक। [2]शब्द। [3]नाव।

(२०)

कुस्वप्न-दुस्स्वप्न समस्त विश्वके
सजे हुये है मन-पण्य[१]-वीथि मे,
प्रभात-घंटा अब तीन का बजा,
किन्हे करेगी क्रय, भूप-योषिते !

(२१)

प्रभात के स्वप्न प्रसिद्ध हेतु है,
समर्थ भावी-क्रम के विकास मे;
कभी-कभी स्वप्निल जीव जागता
स्व-भाग्य का आगम[२] देखते हुये ।

(२२)

प्रभात में चित्रण आत्म-रूप का
निमीलिताक्षी[३] त्रिशला बना रही,
पली हुयी प्रांगण-मध्य सारिका
सुना रही थी सुख-स्वप्न-गीतिका ।

(२३)

उड़े-उड़े, पंजर छोड, सारिके !
प्रबोध[४]-शाली निज स्वप्नपक्ष[५] पै;
कहे कहानी उस अंतरिक्ष की
चली कभी थी जिस दिव्यलोक से ।

---

[१]बाज़ार । [२]आगमन । [३](निद्रा के पश्चात आलस्य से) आंखें बंद किये हुये । [४]जागृत । [५]पंख ।

(२४)

जिन्हें लखा जागृति मे न था कभी
विलोक लें वे सुख-स्वप्न सुप्ति मे,
प्रसन्न है पुत्र त्वदीय गर्भ में,
स-हर्ष देता नव प्रेरणा तुझे।

(२५)

प्रशान्त-आत्मा-विधु के समंतत
प्रसुप्ति के वारिद है घिरे हुये;
प्रदीप्ति-छाया-मय रग-रंग के
महेन्द्र[1] के चाप-समान स्वप्न है।

(२६)

समाप्त-प्राया रजनी चली जभी,
प्रदीप-शोभा जलने लगी जभी,
उड़े तभी षोडश स्वप्न भृंग-से
नरेन्द्र-जाया-हृदयारविन्द से।

(२७)

नितान्त-छाया-मय-भावि[2]-कुज में
कुरग के शावक स्वप्न खेलते;
कुरंग-नेत्री वन कंज-लोचना
विलोकती क्रीडन आत्म-भाव का।

---

[1]इन्द्र। [2]होनेवाले।

(२८)

अतः सुनो वे सब स्वप्न जो लखे
नरेश-जाया त्रिशला ललाम ने
विलोक पाये न किसी कलत्र ने
नरेन्द्र की हो, अथवा सुरेन्द्र की।

(२९)

लखा गया; एक अगाध सिंधु है,
गिरीन्द्र-मूलस्थ[1] अरण्य-कूल में,
प्रशान्त आवर्त-विहीन नीर से
अगाध गांभीर्य्य-समेत व्यास है।

(३०)

तुरन्त ही स्थैर्य्य[2]-समेत नीर में
इतस्ततः बुद्बुद बोलने लगे,
उठा जलस्तंभ[3] पयोधि-अंक से
नवांगना-कंचुक-युक्त-वक्ष-सा।

(३१)

पुनश्च कीलाल[4] विदार शीघ्र ही
उठा अहो! श्वेत गजेन्द्र सिंधु से,
महेन्द्र-मातंग[5]-समान विक्रमी
दहाड़ता, शुंड प्रहारता हुआ।

---

[1]जड़। [2]स्थिरता। [3]जलका खंभा। [4]पानी। [5]ऐरावत।

(३२)

पुनः पटाक्षेप हुआ कि शीघ्र ही
वही महासागर भासने लगा।
अखंड उच्छ्वास-भरा समीर था,
प्रचंड निर्घोष[1]-भरा कमंध[2] था।

(३३)

समुच्च थी उत्थित-वीचि भित्ति-सी,
अजस्र आलोडित ह्वैल-कृत्ति[3]-सी,
समीर-संचालित मेघ-यूथ-सी,
विभीत मानो बहु-हस्ति-सैन्य-सी।

(३४)

पुनश्च रत्नाकर-मध्य रत्न का
समूह उत्तुंग हुआ, सु-मेरु-सा
प्रदीप्त आभा नव सप्त-रंग की
हुई समुत्सारित[4]-सी दिगन्त में।

(३५)

उसी महा उज्वल रत्न-राशि पै
विशाल सिंहासन भासने लगा,
सुपर्ण[5] की आकृति के अनेकशः
लगे हुये सुन्दर हस्त-पाद थे।

---

[1]शब्द। [2]जल। [3]ह्वैलकी त्वचा। [4]फैली। [5]गरुड।

(३६)

पुनश्च सिंहासन-मध्य राजती
सु-शोभिता क्षीरधि-कन्यका लसी
अनेक-वर्णाभरणा, मनोरमा,
सुपर्व-सेव्या, वसु-धाम[1] इन्दिरा ।

(३७)

किरीट-संयुक्त ललाट की प्रभा,
कपोल की कुडल-मंडिता विभा,
मनोज्ञ केयूर[2] लसे सु-वाहु मे
स-कज शोभा कर की अनूप थी ।

(३८)

प्रसन्न था आनन विश्व-मातृ का,
प्रफुल्ल कंजायत नेत्र-युग्म थे,
प्रकीर्ण होती जिनसे सुखावहा[3]
प्रदीप्ति त्रैलोक्य-जनानुमोदिनी ।

(३९)

लखा गया जो पहले गजेन्द्र था,
हुआ द्विधा; दो गज दीखने लगे;
द्वि-पार्श्व-वर्ती वन विश्व-मातृ के
घटस्थ पीयूष[4] उडेलने लगे ।

---

[1]धन । [2]वाजूवद । [3]सुखदायिनी । [4]अमृत या दुग्ध

(४०)

द्विशुंड से वे गज-युग्म स्नेह से
हुये सुधा-वर्षण में निमग्न यों—
अजस्र धारा चतुरंगिणी गिरी
समुद्रजा[1] के अमिताभ शीर्ष पै ।

(४१)

पुनश्च देखा गगनस्थ चन्द्रमा
अशेष राका-निशि-नाथ-तुल्य ही,
प्रकाशती सर्व-दिशा समुज्वला
अनन्त-तारागण - मंडिता-प्रभा ।

(४२)

मनोज्ञ क्रीड़ा-सर था कि लक्ष्मि का,
कि दिग्वधू-दर्पण ज्योति-धाम था,
मनोज का मंजुल आतपत्र[2] था,
कि देव-कासार[3]-सहस्र-पत्र था ।

(४३)

तुरन्त हो उत्थित भूमि-अंक से
फणीन्द्र सो उच्च निवेश-साल सा;
अनेक थे शीर्ष सुमेरु-शृंग से
अनन्त वातायन[4]-युक्त धाम था ।

---

[1]लक्ष्मी । [2]छतरी । [3]तड़ाग । [4]खिड़की ।

(४४)

शशांक के और फणीन्द्र-धाम के
सु-मध्य में शोभित दो विमान थे,
कपोत के युग्म-समान दूर से,
समीप से दो गृह-तुल्य जो उड़े।

(४५)

मृगेन्द्र कूदा पहले विमान से
द्वितीय से भी वृप[1] भूमि पै गिरा
चला बलीवर्द[2] स-दूर्व भूमि को
स-शब्द शंलाट[3] अरण्य को गया।

(४६)

पुन गिरे दो स्रग[4] यान-युग्म से
अलात[5]-माला-सम चक्र-युक्त हो,
गिरे जभी भू पर शब्द-हीन वे
दिखा पड़े दो घट माल्यवान[6] थे।

(४७)

उसी घड़ी सूर्य्य उदीयमान हो
मनोज्ञ प्राची दिशि को प्रकाशता
दिखा पडा चंक्रम-युक्त सामने
समस्त भू को करता प्रदीप्त था।

---

[1]बैल। [2]बैल। [3]सिंह। [4]माला। [5]चरखी। [6]माला-युक्त।

(४८)

मरीचियाँ उत्थित सूर्य्य-देव की
बना रही थी अनुरंजिता[1] धरा,
समस्त कासार, सरोज-पुंज से
ढके हुये पीत पराग से, लसे।

(४९)

महान आश्चर्य्य हुआ उन्हे जभी
प्रफुल्ल देखे सर मे सरोज, जो
निशा तथा वासर मे पृथक्-पृथक्
प्रकाशते है, पर संग-संग है।

(५०)

पुन. वही श्वेत गजेन्द्र पूर्व मे
लखा गया जो त्रिशला ललाम से
सरोज-सा, भृंग-समान व्योम मे,
उठा बृहत्काय, बना गिरीन्द्र-सा।

(५१)

पुनश्च हो सो लघु अंतरिक्ष मे
मिलिन्द-सा आ त्रिशला-समीप ही
नृपेन्द्र-जाया-मुख-कंज मे धँसा
यथैव भावी[2]-सुत-सूचना शुभा।

---

[1]प्रसन्न। [2]होनेवाले।

(५२)

तुरन्त बन्दी-जन गान गा उठे,
मृदंग बीणा बहु बाजने बजे
समेत-आनद्ध[१]-सुषीर[२] झल्लरी
बजी, जभी पुण्य-प्रभात आ गया।

(५३)

"उठो, उठो, देवि प्रभात हो गया
करो सभी सत्वर योग्य कार्य, वे
समृद्धि की जो तति[३] वंश मे करे
अशेष कल्याण त्रिलोक में भरें।

[द्रुतविलंबित]

(५४)

"जिस प्रकार, शुभे! दिशि पूव के
उदर-मध्य दिनेश छिपा हुआ,
निहित है सुत यो तव कुक्षि[४] मे
सकल लोक-प्रकाशिनि ज्योति ले।

(५५)

"अपगता[५] भव-यामिनि हो चली,
उदय है शुभ ज्ञान-प्रकाश का;
अलस-अंबर त्याग उठो, उठो,
जग गया जग में जन धन्य सो।"

---

[१]ताल देनेवाले बाजे, तवला, मृदग आदि। [२](सुषीर) मुहसे वजनेवाले वाजे। [३]प्रसार। [४]कोख, उदर। [५]व्यतीत।

चौथा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

प्रभात आया, तम नष्ट हो चला,
त्विषा[1] लगी पूर्व दिशा प्रकाशने।
समीर डोला, सुमनावली हिली
प्रकाश फैला दश-दिग्विभाग में।

(२)

प्रफुल्लता मे सुम-सद्यता सनी
इतस्तत खेचर[2] कूजने लगे,
महान रम्या कलविंग[3]-मंडली
निवेश पै कूजन मे प्रसक्त थी।

(३)

विहग ऐसे बहु मोद मे सने
प्रभात मे पूर्ण प्रसन्न ज्यो हुये,
समीर भी अंबर[4] की मलीनता
बुहारता था जल सीच ओस का।

---

[1]प्रकाश। [2]पक्षी। [3]गौरैय्या। [4]आकाश।

(४)

प्रभात निःश्वास सुगंध-युक्त है,
लसा हुआ फुल्ल-सरोज-वक्त्र[1] है,
यथा तिरस्कार-समेत मेघ की
हँसी उड़ाता मद-मत्त वायु हो।

(५)

उषा लसी थी अति मोद-दायिनी
गुलाब की प्रस्फुटिता-कली-समा,
निशीथ-अंधतम[2]-कोष से बढ़ी
चढी मनोज्ञा प्रति-पत्र फुल्लता।

(६)

जगे, जगे, तू तितली प्रबुद्ध हो,
उड़े, उडे, मार्ग प्रसून जोहते;
सुमेरु से स्वर्णिम-रश्मि सूर्य की
मरीचियाँ है बहु रंग दे रहीं।

(७)

प्रलब-काया रवि-रश्मियाँ चली
कि प्राच्य-तूणीर-विनिःसृता प्रभा,
चला त्रियामा[3]-तम-सैन्य शीघ्र ही
जगी धरा की विविधा अगावली[4]।

---

[1]मुख। [2]घोर अंधकार। [3]रात्रि। [4]वृक्ष-समूह।

(८)

विलोकिये पादप-शीर्ष से उठा
दिनेश ले प्राण प्रकाश-पुंज के
विनाशता स्तोम[1] तमिस्र, साथ ही
प्रकाशता था सकला वसुंधरा।

(९)

नृपाल-वातायन-मध्य झाँकता
कि मंत्र-शास्त्रज्ञ-समान प्रात यों
सुषुप्ति-संमोहन[2] था भगा रहा
समीर-फूत्कार-समान शब्द से।

(१०)

निवेश-छज्जों पर जा मयूरियाँ,
स-तार[3]-केका-रव छेड़ने लगी
प्रसून की पंखड़ियाँ इतस्ततः
गिरा रही थीं वहु वुन्द ओस के।

(११)

न सूर्य्य आया, फिर भी दिगंत के
पदार्थ थे रंजित सप्त रंग के,
अदृष्ट ही स्पर्श प्रभाव से, लखो,
हुयी समस्ता अनुरंजिता धरा।

---

[1]घना। [2]बेहोशी। [3]उच्च-शब्द-युक्त।

(१२)

उषा समायी प्रति गेह में जभी
समुच्च था निःस्वन ताम्रचूड[1] का
प्रभात के शीतल सद्य[2] श्वास से
बने सभी मानव जागरूक थे।

(१३)

अनूप प्रत्यूष-विलोचनान्त से
कपोल पै लज्जित पुष्प के पड़ी
अनेक बूँदे हृदयानुमोदिनी
वड़े-वड़े मौक्तिक पारसीक[3] ज्यो।

(१४)

विलोकिये भूति[4] प्रभात-कालकी
उदीयमाना छवि सूर्य्य-देव की,
कि प्रात की दृष्टि पड़ी सुमेरु पै
महेश-नेत्रानल या कि मार पै।

(१५)

प्रभात के कोमल कंप-युक्त-से
पड़े गुलाबी पद पूर्व-शीर्ष पै,
कि अंशु के फाल[5] चले महीध्र पै
दिनेश यों मौक्तिक-बीज बो रहा।

---

[1]मुर्गा। [2]ताजा। [3]फारस देश के। [4]शोभा। [5]जमीन जोतने का लौह।

(१६)

प्रभात, मानों रुचि-पूर्ण भाव से,
नितान्त संज्ञा-मय चारु चाव से,
बुहारता लेकर अंशु-'मार्जनी
'विमोहिता तद्रित जीव-लोक की।

(१७)

किया सदा स्वागत फुल्ल कंजने
प्रभात का जागृत नेत्र से मुदा
परन्तु राज्ञी—त्रिशला ललाम—की
प्रवुद्ध नेत्राकृति वे न पा सके।

(१८)

पुरा सुरों ने बहु खोज की, तथा
सुवर्ण पाया कुछ हेम-कूट पै,
लखो, निहारो, इस प्रात-काल को—
मुखाब्ज चामीकर' से भरा हुआ।

(१९)

प्रभात पूर्वीय-हिमाद्रि-शृंग पै
प्रकाशता है हिम की कणावली,
प्रबुद्ध मैना-मिष गान-युक्त हो
जगा रहा कानन की खगावली।

'बुहारी। 'बेहोशी। 'स्वर्ण।

(२०)

प्रभात ने स्वर्णिम द्वार खोल के
अहो! बिदा ली नव सूर्य्य-रश्मि से,
किसी युवा ने जिस भाँति प्रात मे
तजी स्थली हो युवती-निवेश की।

(२१)

त्रिलोक-संपूजित सूर्य्य पूर्व के
विशाल वातायन से उगा नहीं,
कि रात्रि भागी सँग श्याम चैल[1] के
प्रभात आ पादप पै खड़ा हुआ।

(२२)

निशीथ के दीपक ज्योति-हीन है,
प्रभात के मौक्तिक शैत्य-युक्त हैं,
पतंग हो भास्वर[2] भूरि भ्राजता,
पता नहीं है खग[3]-राशि-चक्र का।

(२३)

प्रभात, संबोधित हो विहंग से,
जगा रहा है सब जीव-जन्तु यों—
कि यात-[4]यामा निशि भी रुकी न, जो
प्रकाशती स्वप्निल सृष्टि की प्रभा।

---

[1]कपड़ा। [2]प्रकाशमान। [3]नक्षत्र। [4]गत-प्राया।

(२४)

निशा-मुषे[1]! स्वागत है उषे! तुझे
सुदेवते! सुन्दरि! लेश[2]-लज्जिते!
त्वदीय जो स्वर्णिम आशुगावली[3]
लगी अँगों में दिन के स्फुलिंग-सी।

(२५)

त्वदीय जो अंशुक[4] अंशु से बना
उषे! समाच्छादित अर्ध-व्योम मे,
हुआ, कि मोती उससे गिरे, पड़े,
झड़े अँगों पै बन ओस-बुन्द ही।

(२६)

सुगन्ध से युक्त समीर प्रात का
अगों-नगो के स्थल भेंटता हुआ,
निवेश-वातायन से निविष्ट हो,
सु-राज्ञि-पर्य्यंक[5]-समीप है खडा।

(२७)

स-लज्ज-गंड[6]-स्थल प्रात नम्र हो
समीप आके त्रिशला ललाम के,
उड़ेलता मौक्तिक ओस-बुन्द के,
विखेरता म्लान प्रसून सेज के।

---

[1]रात्रि को चुरानेवाली। [2]किंचित्। [3]रश्मियाँ। [4]रेशमी कपडा। [5]पलंग। [6]कपोल।

(२८)

प्रभात-वायु-प्लव[1] से उसी घड़ी
सुषुप्ति साम्राज्ञि-अपाग[2] से उड़ी
उड़ा यथा सिधु-पतत्रि[3] सिधु को
उडा यथा त्रास समूढ हास से ।

(२९)

उषे ! निशा से दिन खीच ला, प्रिये !
मुदा जगा ज्योति अपूर्व पूर्व मे,
उगी पुरा जो भव-[4]अंधकार से
स्व-जन्म आशा जब ले बनी शुभा ।

(३०)

लिये महाराज्ञि-कपोल-पाडुता
उषे । हुयी आज उदीयमान तू,
जिनेद्र आये त्रिशला-सुकुक्षि मे,
दिनेन्द्र तेरे शुभ गर्भ मे बसे ।

(३१)

उरोज का कुंकुम शेष-प्राय था,
मनोज का विभ्रम शेष-प्राय था,
विराम-शेषा त्रिशला ललाम का
निशा-प्रभावांजन शेष-प्राय था ।

---

[1]झोका । [2]पलक । [3]पक्षी । [4]ससार ।

(३२)

चकोर के लोचन चन्द्रकान्त-से
स-बुन्द थे सिक्त निशान्त-ओस से,
परन्तु चित्तानल कोक[1]-लोक का
प्रनष्ट होगा अब सूर्य्य-कान्त-सा।

(३३)

दिनेश आता अब रश्मि-बिंब से
प्रमोद देता त्रिशला ललाम को,
गिरा रहा है पर कर्ण-युग्म से
विभंग-लक्ष्मी[2] जल-जात आशु ही।

(३४)

दिनेश-सप्ताश्व विहाय मन्दुरा[3]
क्षुधार्त दूर्वा-दल खोजने लगे,
उठो, उठो, देवि न रात्रि शेष है
स-नाद होता रव ताम्र-चूड[4] का।

(३५)

सुरम्य प्राची सित-पिंग हो गयी,
यथा लसा पारद-गर्भ हेम हो,
समस्त नक्षत्र विलीयमान हैं,
नितान्त-उद्योग-विहीन भूप-से।

---

[1]चकवा-चकई। [2]शोभा-हीन। [3]अस्तबल। [4]मुर्गा।

(३६)

प्रदीप भी संप्रति ज्योति-हीन है,
यथा कुटुम्बाधिप रिक्त द्रव्य-से,
निशान्त में मौक्तिक शैत्य-युक्त है,
नृपाल के भृत्य [1]गताधिकार-से।

(३७)

लतावली भी अब पाण्डु[2] हो रही,
प्ररूढ़-गर्भा ललना-ललाम-सी,
प्रफुल्ल है कुंद महान मोद में
नरेश-द्वारा-कृत-मान-भृत्य-से।

(३८)

प्रभात में कोकिल गान-युक्त है,
नृपाल के संमुख हो कवीन्द्र ज्यों,
निशा हुई है इस भाँति निष्प्रभा,
समृद्धि जैसे मति-हीन दुष्ट की।

(३९)

प्रसन्न है सप्रति अंतरिक्ष भी,
प्रपन्न[3] ज्यो स्थानक-वासि साधु हो,
त्रिलोक से अंध-तमिस्र यों हटा,
मुनीन्द्र के मानस से अघौघ[4] ज्यों।

---

[1]अधिकार-हीन। [2]पीला। [3]विनीत। [4]पाप-समूह।

[द्रुतविलंवित]

(४०)

इस प्रकार प्रभात-प्रभा-मयी
अवनि-अंवर की छवि हो गयी,
सपदि[1] पूर्ण हुई दिन-नाथ की
सकल-लोक-प्रकाशन-प्रक्रिया ।

[वंशस्थ]

(४१)

उसी घड़ी श्री त्रिशला-निवेश के
समक्ष ही आकर एक निस्पृही
अनूप-नामा कवि छांदसाग्रणी[2]
भुजा उठा गायन-युक्त यों हुआ.—

(४२)

"सदा इसी भाँति जिनेन्द्र-सूर्य्य के
स-तेज होते क्षिति-अंतरिक्ष में,
विनष्ट होते खलु[3] रिंकणादि[4] हैं,
अशिष्ट मिथ्या-मत के समान ही ।

[1]शीघ्र । [2]कविश्रेष्ठ ।
[3]निश्चय ही । [4]जुगनू ।

(४३)

"सदैव अर्हत-स्वरूप अर्क के
प्रकाश होते भव-व्योम-अंक मे,
महा कुलिगी[1] खल-तस्करादि भी
प्रतीत होते द्रुत भागते हुये।

(४४)

"तथैव साम्राज्ञि ! जिनेन्द्र-अर्य्यमा[2]
स्वकीय, संबोधन-अशु से मुदा
समस्त-प्राणी-भव के विनाश को
स्व-जन्म लेते तव देवि ! कुक्षि मे।

(४५)

"तथैव तीर्थंकर शुद्ध ज्ञान की
गभस्तियों[3] से कर धर्म-मार्ग को
प्रशस्त, पाते पद अतरिक्ष मे
सु-लोचने ! लोचन लोक-लोक के।

(४६)

"तथैव तीर्थंकर वाक्य-अशु से
सदा खिलाते मन-कंज साधु के;
तथैव तीर्थेश्वर शब्द-रश्मि से
विनाशते काम-कुमोद[4] संत के।

---

[1]कुलक्षणी। [2]सूर्य्य। [3]किरणें। [4]दुःख या कुमुद।

(४७)

"अत उठो, हे त्रिशले ! जगो-जगो,
विलासिनी-मंडल-मान-मर्दिनी !
प्रबुद्ध हो, संप्रति शुद्ध हो, शुभे !
कुरंग-नेत्रे ! ललिते ! मनोरमे !

(४८)

"प्रभात में श्रावक-श्राविका सभी
अजस्र-सामायिक-दत्त-चित्त हो,
प्रसक्त हो कर्म-अरण्य-होम[1] में,
सदा उठाते ध्रुव धर्म-धूम हैं।

(४९)

"अनेक संपूजित-पंच-देवता
प्रवृत्त होते व्रत-जाप मे मुदा;
परन्तु जो चित्त-निरोध-लग्न, वे
निलीन होते सुख-सिंधु ध्यान में।

(५०)

"तथैव जो धीर विमुक्ति-प्राप्ति के
लिए, न लाते ममता शरीर पै,
प्रवृत्त व्युत्सर्ग[2]-तपादि मे वही
विनाशते कर्म, विमोक्ष साधते।

---

[1]जलाना। [2]त्याग।

(५१)

"अतः उठो, हे त्रिशले ! सुलोचने !
नरेन्द्र-जाये ! पति-भक्ति-तत्परे !
प्रसक्त हों सत्वर धर्म-ध्यान में
पवित्र आदर्श-चरित्र आप हैं।"

(५२)

मनोरमा श्रोत्र[1]-सुखावहा तभी
हुई महा-मंगल-गीति; कामिनी
प्रबुद्ध होके, शयनांक छोड़के
उठी, लगी नित्य-निमित्त-कार्य्य में।

(५३)

विशाल-नेत्रा हरिणी-समान सो,
सुधांशु-आस्या रजनी-समान सो,
उठी चली यो त्रिशला मदालसा
सु-मंद-पादा करिणी-समान सो।

(५४)

समेत-कल्याणक नित्य की क्रिया
समाप्त सामायिक आदि ज्यों हुये,
निवृत्त हो सत्वर प्रातराश[2] से
गयी सभा-मध्य सखी-समेत सो।

---

[1]कान। [2]प्रभात का भोजन।

(५५)

स-हर्ष वामासन[1] भूप ने दिया
प्रसन्न-आस्या सुमुखी सु-भीरु को।
नृपेन्द्र-जाया कहने लगी तभी
लखे गये जो सुख-स्वप्न रात्रि में:—

(५६)

"सुनो प्रभो ! ब्रह्म-मुहूर्त में मुदा
हुये मुझे षोडश स्वप्न आज ही;
न जान पाती उनका प्रभाव मैं,
अतीव आश्चर्य्य, महान खेद है।"

(५७)

तदा सुनाये सब स्वप्न देवि ने
सभासदों ने, धरणीश ने सुने।
परन्तु साश्चर्य्य समस्त मंडली
रहस्य के भेदन[2] में अशक्त थी।

(५८)

वहीं कहीं एक मुनीन्द्र संयमी
अदृष्ट आये उपदेश के लिए,
स-तर्क हो स्वप्न-कथा सुनी तथा
स-हर्ष बोले अति शान्त भाव से।

---

[1]बाईं ओर का आसन। [2]उद्घाटन।

(५९)

"नरेश, ये षोडश स्वप्न राज्ञि के
महान-गंभीर-महत्त्व-पूर्ण हैं,
अतः सुनो होकर सावधान, मैं
रहस्य-उद्भेदन-यत्न-शील हूँ।

(६०)

"सुनो, महाराज्ञि-पवित्र-कुक्षि से
जिनेन्द्र तीर्थंकर जन्म ले रहे,
सुगंध-संयुक्त-शरीरवान व
प्रसार देंगे जिन-धर्म की सुधा।

(६१)

"स्व-धर्म के स्पंदन-हेत सारथी
प्ररोह[१] देंगे मुनि-साधु-वृन्द को,
प्रसिद्ध कर्मान्तक हो त्रिलोक मे
प्रवृत्त होंगे मद-मोह-नाश मे।

(६२)

"सदैव कल्याणकरी विवृत्ति[२] से
प्रचारकारी बन ज्ञान-ध्यान के,
अवाप्त होंगी महि-क्षेम-कारिणी
प्रसिद्ध नौ केवल-लब्धियाँ उन्हें।

---

[१]उन्नति। [२]आचरण।

(६३)

"सु-देह होगी शुभ-लक्षणान्विता,
सु-कीर्ति होगी विधु-सी समुज्वला,
सु-वह्नि[1] से सम्यक-दर्शनादि की
प्रदाह देंगे वह कर्म-काष्ठ को।

(६४)

"महा-महाराज-पदाधिकार से
बना वशीभूत नरेश-चक्र को,
सदा सुखी जीवन दे उसे सुधी
समृद्धि देंगे अपवर्ग[2] की मुदा।

(६५)

"नरेन्द्र ! अभ्यागत देव हो चुके,
जिनेन्द्र स्वर्गागत राज्ञि ! हो चुके,
विदेह में हर्षित राग-रंग हो
निवेश में मंजु बधाइयाँ बजें।"

(६६)

नृपाल बोले, "ध्वनि आपकी, मुने !
लगी मुझे डिंडिम[3]-घोष-सी, अहो !
कि जो भरी कोटिक धन्यवाद से
समस्त-आगामि-मनुष्य-लोक के।"

---

[1]अग्नि। [2]मुक्ति। [3]नगाड़ा।

(६७)

सहर्ष बोली त्रिशला सु-वाक्य यों–
"मुने! मुझे हो तुम इन्द्र-चाप सो,
दिनान्त-आभा-अनुराग-रक्त जो,
निशान्त-शोभा-भव-भाग्य-सक्त जो।"

(६८)

तुरन्त अतर्हित हो गये सुधी,
मुनीन्द्र-माला महि-अंक में गिरी
समस्त भू को चरमाभिधान[1] जो,
मनुष्यता को अति दिव्य दान था।

(६९)

सभासदों ने सब एक साथ ही
कहा "महा वासर धन्य आज का,
पवित्र है, और महत्त्व-पूर्ण है
विचित्र है, संस्मरणीय है, प्रभो!

(७०)

समस्त भू के इतिहास में कभी
न वृत्त ऐसा हमसे सुना गया;
कि उच्च होगी इतनी मनुष्यता,
कि धन्य होगी इस भाँति से धरा!"

---

[1]सर्वश्रेष्ठ नामवाला।

(७१)

सभासदों की कर पुष्टि व्योम में
सु-पर्व आनंद-विभोर हो उठे;
प्रसक्त[1] होने सब देवता लगे
सु-गर्भ-कल्याणक-उत्सवादि मे।

(७२)

सुपर्व[2] ज्योतिर्विद सिंह-नाद से,
अमर्त्य[2] तार-स्वर शंखनाद से,
अस्वप्न[2] विद्याधर शृंग-नाद से
महा-समारोह-प्रमोद मे लगे।

(७३)

हुई स-गर्भा त्रिशला विमुग्ध थी
पतिव्रता - मंडल - चन्द्र - चूलिका,
महान मातृत्व-ममत्व-उत्स[3]-सा
छिपा नही मानस में नतभ्रु[4] के।

(७४)

फली सदिच्छा सुत-जन्म की तभी
चली सभा से त्रिशला स्व-गेह को।
स-गान डोली सँग दिक्कुमारियाँ
बनी सखी सुन्दरि छद्म[5]-वेषिणी।

---

[1]संलग्न। [2]देवता। [3]सोता। [4]स्त्री। [5]गुप्तवेषवाली।

[द्रुतविलंबित]

(७५)

उमड़ आनँद के रस से उठा
हृदय विस्तृत-व्यास शराव[१]-सा,
न जिसमे अभितृप्ति-समा सकी,
सरित दुग्धवती बहने लगी।

---

[१]कटोरा।

पाँचवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

हुआ अगस्त्योदय अंतरिक्ष में
तड़ाग-कालुष्य मिटा शनै: शनै:,
रतान्तिका की जघन-स्थली-समा
खुली लसी सुन्दर ह्लादिनी[1]-तटी।

(२)

शशांक के उज्ज्वल रश्मि-वारि से
महान-सिक्ता शरदंगना[2], लखो,
प्रसन्न हो अंबर आज धो रही
पयोद-माला-मल-युक्त था कि जो।

(३)

तड़ाग नीलाम्बर के तले मुदा
शशांक[3]-से हंस विराजमान थे,
इतस्तत: तारक के समान ही
महा प्रफुल्ला कुमुदावली लसी।

---

[1]नदी या तालाब । [2]शरद्-ऋतु रूपी स्त्री । [3]चंद्रमा ।

(४)

तडाग थे स्वच्छ तडाग हों यथा,
सरोज थे फुल्ल सरोज हो यथा,
शशांक था मंजु शशांक हो यथा,
प्रसन्नता-पूर्ण शरत्स्वभाव था ।

(५)

हुई प्रसन्नेन्दु-मुखी सितांबरा[1],
उपस्थिता उत्पल-पत्र-लोचना,
स-पंकजा नीलिम-व्योम-शोभिता
स-हंस-बाल[2]-व्यजना शरद्-वधू ।

(६)

सरोज-नेत्रा, सित-चंद्र-आनना,
महान रम्या, तरु-वृन्द-सौख्यदा,
शुभांबरा, गुप्त-पयोधर-प्रभा,
लसी नवोढ़ा-सम शारदी निशा ।

(७)

धरित्रि में थी परिणाम-रम्यता,
तथा अनौद्धत्य[3] नदी-समूह में,
अ-पंकता थी जल में विराजती,
शरत्प्रभा से महि पूर्ण-काम थी ।

---

[1]श्वेतवस्त्रवाली । [2]बालक या केश, पख । [3]मंदता ।

(८)

दिनान्त में भूपति एकदा यदा
मुदा पधारे त्रिशला-निवेश मे
लखी स्व-जाया सखि-वृन्द-संयुता
विराजती प्रांगण मे स-मोद थी।

(९)

दिनान्त मे शान्त-स्वभाव संयमी
सभी सुखाते श्रम-वारि वार[1] का—
निवेश की ओर चले कि शीघ्र ही
चली स्व-छाया वन अग्रवर्तिनी।

(१०)

प्रशान्ति आयी सब ओर भूमि मे,
हुई समस्ता महि शब्द-हीन-सी,
परन्तु तो भी कल-नाद उत्स का
सुना सभी ने लघु शैल था जहाँ।

(११)

निवृत्त हो भूपति राज-काज से
प्रसन्न लौटे गृह-अंतरंग मे,
जहाँ स-गर्भा त्रिशला मदालसा[2]
विराजती थी सखि-मध्य-वर्तिनी।

---

[1]दिन । [2]मद से आलसयुक्त।

(१२)

दिनान्त का काल महान शान्त है,
मुहूर्त कोई इस-सा न कान्त है,
विहग जाते सब स्वीय नीड[1]को
सरोज सोते निज नेत्र मूंद के।

(१३)

पवित्र साध्वी-सम साँझ की घड़ी
प्रशात होती जब साँस साध के,
अडोल होती अलि[2]-नेत्र-पुत्तली
जिनेन्द्र-पूजा-रत अर्जिका-समा।

(१४)

प्रसून होते सब ओस-सिक्त है,
अतंद्र नक्षत्र-समेत व्योम भी,
तरंग होती अति नील रंग की,
विराजता पाटल[3] वर्ण पत्र पै।

(१५)

नृपाल आये गृह मे दिनेश-से
निशेश-तुल्या त्रिशला उठी तभी,
सभी सखी तारक-मंडली-समा
स-भक्ति सेवा-रचना-प्रसक्त थी।

---

[1]घोसला। [2]भ्रमर। [3]लाल।

(१६)

तुरन्त ही पूर्व-दिशाभिरंजिनी
अपूर्व राका दिशि पूर्व मे उगी,
स्व-कान्ति से जो करती तिरस्कृता
विलासिनी-मंजु-कपोल-कान्तता ।

(१७)

उसी घड़ी इन्दु-गभस्ति[1]-मालिका
गिरी सुधा-धौत[2] निवेश-भित्ति पै
प्रकीर्ण हो सुन्दर शोभने लगी,
समृद्धियाँ ज्यों अवदात[3]-वंश में ।

(१८)

समुद्र का उज्ज्वल फेन ले शशी
दिगंगना-अंगन लीपने लगा;
विनाश देने कुमुदादि[4] को कि सो
चला हनूमान-समान व्योम में ।

(१९)

तड़ाग मे आयत अंतरिक्ष के
शशांक शोभा-मय राज-हंस-सा
विराजते संपुटिताब्ज-ऋक्ष भी
अमंद-आनन्द-प्रदान-दक्ष थे ।

---

[1]किरण । [2]चूने से पुता हुआ । [3]श्वेत । [4]कुमुद या राक्षस-विशेष जिसे हनुमानने लंका में मारा था ।

(२०)

निविष्ट हो पंजर में मराल ज्यों
हिमाद्रि के कंदर मे यथा नखी
प्रवीर ज्यों कुंजर के वरंड[1] मे
तथा शशी अंबर में प्रविष्ट था।

(२१)

कि व्योम-वापी[2]-सित-पुंडरीक था,
कि मार-शाणोपल[3] ही विराजता
कि रात्रि-वामा-कर-रिक्त गेंद-सा
शशांक कूदा नभ-वप्र[4] में तदा।

(२२)

नभोलता-कुंज-उपागता तथा
प्रमोद - पर्य्याकुल - तारका - मयी
निशांगना की तम-पूर्ण कंचुकी
स-वेग खींची कर से शशांक ने।

(२३)

मयूख[5]-लेखा प्रथमा शशांक की,
कि रात्रि की कुंकुम-चर्चिका लसी[6],
प्रवाल की पंक्ति अशोक-व्योम की,
कि मार की थी मणि-कुंत-वल्लरी।

---

[1]हौदा। [2]कूप। [3]शान रखने का पत्थर। [4]मैदान। [5]किरण। [6]लेखनी, कूची।

(२४)

त्रिलोक के मोहक अंधकार को
सदैव, नित्य-प्रति, खा रहा शशी,
इसीलिए उज्ज्वल-देह-कुक्षि[1] में
समूढ़ अघतम है, विलोकिये।

(२५)

कि प्रेम से तामस-केश-पाश को
मरीचि की अंगुलि से हटा-हटा,
विलोकिये, सपुटिताब्ज-लोचना
निशा-वधू का मुख चूमता शशी।

(२६)

विलासिनी-आनन कुंज-कुंज मे
विलोकता है हँसता हुआ शशी,
प्रसारता है कर जाल-जाल में
मनोज्ञता की वह भीख माँगता।

(२७)

महीध्र[2] कैलाश हुये समस्त हैं
सभी पलाशी[3] सित-आतपत्र[4] हैं,
समुद्र सारे पय-सिंधु से लसे,
कु-पक भी है दधि-तुल्य राजता।

---

[1]कोख। [2]पर्वत। [3]वृक्ष। [4]छतरी।

(२८)

शशांक प्रत्येक निशान्तराल[1] में
स्वकीय गाथा कहता धरित्रि से,
कि जन्म कैसे इस पिंड का हुआ,
कि कीर्ति कैसे बढ़ती सु-कर्म से।

(२९)

प्रपूर्ण राकेश नभो-निकुंज से
विकीर्ण[2] जोत्स्ना करता समंततः,
सभीर मानो गति से शनैः शनैः
प्रगाढ़ निद्रावश हो रहा, अहो!

(३०)

शशांक-जोत्स्ना चलती सुमेरु से
महीरुहों से छनती धरित्रि में,
नदी बहाती तल में प्रकाश की,
बढा रही प्रेम निशा ललाम से।

(३१)

उगा नही चंद्र, समूढ़ प्रेम है,
न चाँदनी, केवल प्रेम-भावना,
न ऋक्ष है, उज्वल प्रेम-पात्र है,
अतः हुआ स्नेह-प्रचार विश्व में।

---

[1]रात्रि के मध्य का समय। [2]प्रसरित ।

(३२)

मृदग-वीणा-मुरचग आदि से
मनोज्ञता है अनुराग-रंग मे,
अशब्द सौंदर्य्य भरा हुआ, प्रिये !
अनूप दो-अक्षर-शब्द प्रेम मे।

(३३)

मनुष्य गभीर, प्रवीर, धीर भी,
बँधे हुये है सब प्रेम-पाश मे,
रहस्य सारे इस एक राग[1] में
भरे न जाने सुख के कि दुःख के।

(३४)

यही कहीं भू-तल-मध्य जीव दो
विलोकते आपस का सु-मार्ग है,
यही कहीं जीवन-मध्य प्राण दो
अजस्र लालायित भेट के लिए।

(३५)

हरी लता स्वर्णिम पुष्प से मुदा
प्रगाढ मैत्री करती यही कही,
समाप्त होती जब दुःख-यामिनी
अवश्य आता दिन सौख्य-पूर्ण है।

---

[1] गीत, विषय, प्रवृत्ति।

(३६).

यही कही है मृदु भेद[1], प्राण का,
सभी बँधे है अनुराग-ताग मे,
अदृश्य अज्ञात अकथ्य भावना
भरी हुयी है उस प्रेम-मन्त्र मे ।

(३७)

प्रिये ! न पूछो मुझसे कि प्रेम क्या,
प्रकाश क्या वस्तु, कहो दिनेश से ।
कि शैत्य[2] क्या ज्ञात करो निशेश से
कि पूँछ लो यामिनि से तमिस्र क्या ?

(३८)

कहो कि क्या है सुख स्वर्ग मे प्रिये !
कहो कि क्या सुदरता प्रसून मे ?
कि कौन-सी है मृदुता कपोल मे,
कि कौन लावण्य दृगम्बु-बुंद मे ।

(३९)

अनंत भाडार प्रगाढ प्रेम का
न रिक्त होता इस भूमि मे कभी,
यही महा [3]मार्दव-युक्त भावना,
यही महा उत्तम राज-भोग है ।

---

[1]रहस्य । [2]शीतलता । [3]मृदुता ।

(४०)

कथा नही है कथनीय प्रेम की,
जहाँ नही दो मन एक भाव के,
जहाँ न हों दो हृदय-स्थली, जिन्हे
मिला रहा एक अभंग[1] मार्ग हो।

(४१)

पयोद-स ज्योति-विहीन व्योम में,
सु-पल्लवो-से तम-पूर्ण कुंज में,
विचार प्रेमी-जन के अदृष्ट, पै
समेत हैं विद्युत के प्रकंप के।

(४२)

महान इच्छा, त्रिशले ! मदीय है
कि मैं तुम्हारा अनुराग यों बनूँ—
लगा रहूँ यावक[2]-तुल्य पाँव में,
रचा रहूँ आनन-मध्य पान-सा।

(४३)

गुलाब-सा है अनुराग, हे प्रिये !
उगा कभी जो मधु[3]-रात्रि मे कही;
प्रपूर्ण संगीत-समान सौख्य से
स-प्रेम गाया मधु-रात्रि मे गया।

---

[1]अव्यर्थ। [2]महावर। [3]वसंत।

(४४)

प्रभात से हीन प्रभा वसंत की,
पयोद से हीन दिशा निदाघ की,
सु-प्रेम से हीन मनुष्य-कल्पना
न की गयी है कवि से, मनोरमे !

(४५)

प्रसून-अंगाग-धृता, मनोहरा,
सुगंध - निश्वास - समीर - संयुता
वसन्त की मैं ऋतु था विलोकता
परन्तु तू देख पड़ी, मनोरमे !

(४६)

विलोकती है पहले स्व-नेत्र से
सदैव योपा निज प्रेम-पात्र को,
परन्तु पीछे अवलोकती जहाँ
वहाँ वही भाजन[1] प्रेम का उसे।

(४७)

पुरंध्रि ! स्वर्गीय प्रतीति प्रीति है,
सुपर्व-रागाग्नि[2]-प्रदत्त अर्चि[3]-सी,
कि जो उठाती मन को अवश्य ही
त्रिलोक के ऊपर स्वीय शक्ति से।

---

[1]पात्र। [2]प्रेम-अग्नि। [3]किरण।

(४८)

चकोर को क्यों अनुराग चन्द्र से ?
प्रदीप से प्रीति पतंग को तथा ?
नितान्त ही कारण खोजना वृथा,
न प्रेम इच्छा-सुत है मनुष्य का।

(४९)

दिनेश ही एक न तेजवान है,
निसर्ग का प्रेम द्वितीय सूर्य्य है;
जहाँ कहीं सो निज रश्मि डालता
वहीं प्रभा-युक्त प्रमोद राजता।

(५०)

नतभ्रु[१]! मैं तो दिनरात खोजता
प्रभाव क्या है तव प्रेम का, प्रिये !
कि अन्य-वामा-स्मित से मनोहरा
प्रतीत होती यह दृष्टि-भंगिमा।

(५१)

समस्त-आनंद-विचार-भाव जो
विकार लाते वह प्राणि-पुंज में,
अजस्र वे आश्रित प्रेम-भूप के
अमात्य[२]-से, सेनप-से, नियोज्य[३]-से।

---

[१]नत हो भ्रू जिसकी। [२]मंत्री। [३]सेवक।

(५२)

मनुष्य-अस्तित्व, निसर्ग-योजना,
समस्त ब्रह्माड-निरूपणा तथा
अजस्र ही निर्भर प्रेम पै कि जो
सु-पुष्ट प्राग्वंश[1] अशेष-सृष्टि का।

(५३)

अदृष्ट है उद्गम देश प्रेम का
कि जो अनाहूत[2] पधारता, प्रिये !
परन्तु जाता वह है न चित्त से,
चला गया सो न कदापि प्रेम है।

(५४)

समष्ट[3] दो प्राण, समस्त चित्त दो
समूढ़ दो अक्षर प्रेम नाम के
सदा बनाते सुख दुःख को, प्रिये !
महीतलाधिष्ठित स्वर्ग हो रहा।

(५५)

विभेद[4] खोता सब प्राणि-मात्र का
कहा गया दृष्टि-विहीन प्रेम है।
न भेद है श्रावक या श्व-पाक में
न देव या दानव में विभिन्नता।

---

[1]वड़ेर, वह बाँस जो आधार के लिये दो छप्परो के बीच मे रखा जाता है। [2]बिना बुलाये। [3]एक-साथ। [4]पृथकत्व।

(५६)

मनुष्य के चञ्चल रक्त-बुन्द से
सदा समुद्वेलित सिधु न्यून है;
स-प्रेम सिधुस्थ नगाधिराज[1] के
समंतत. उच्छल-नीर विश्व है।

(५७)

मनोज ज्यो दग्ध हुआ शिवाक्ष से
कि खिन्न दौड़ी रति खोजती हुई,
विषण्ण रोती वदती पुकारती
"कहो कहाँ कामुक, काम, कार्मुकी[2]।"

(५८)

प्रमत्तता, सम्यक-ज्ञान-हीनता,
अदीनता, उद्धतता, विकल्पता[3],
प्रसिद्ध जो दुर्गुण यातुधान में
वही वने सद्गुण प्रेम-पात्र के।

(५९)

चकोर राकापति को विलोकता
कि पूछता है निरपाग[4] नेत्र से,
"सदैव जो मै लखता तुझे, सखे!
कहो तुम्हारा इसमे अलाभ क्या?"

---

[1]हिमालय। [2]धनुर्धारी कामदेव। [3]सदिग्धता। [4]अपलक।

(६०)

न राज्य पाता नृप युद्ध के बिना,
न दाम पाता श्रम के बिना श्रमी,
अवाप्त जो है इनको बिलंब में
तुरन्त सो सुन्दरि ! प्रेम-प्राप्त है ।

(६१)

"प्रभो ! मुझे प्रेम सदैव आप से
रहा पदों में परमानुराग ही,
बनी रहूँ मैं भवदीय चेटकी[1]
मुझे सदा प्रेम त्वदीय प्रेम से ।

(६२)

न एक वामांगिनि ही, वरंच मैं
त्वदीय स्वामिन् ! हृदयस्थिता सदा,
त्वदीय जो स्नेह, मदीप प्रेम जो
हुये सदा संगमवान पुत्र में ।

(६३)

"विलोचनों को प्रिय ज्योति-तुल्य जो,
हृदिस्थ है हे प्रभु ! रक्त-तुल्य जो,
सुपुत्र, साकार स्वरूप प्रेमका,
हुआ जिसे प्राप्त वही कृतार्थ है ।"

---

[1] नौकरानी ।

(६४)

"प्रिये ! तुम्हारी उठती सु-कुक्षि पै,
तथैव पीले पड़ते कपोल पै,
बिछा रही है मम लालसा सुधा,
खिला रही प्रेम-प्रकाश-पुष्प है।

(६५)

"मदीय आनंद-स्वरूपिणी, प्रिये !
मदीय आमोद-विधायिनी, प्रिये !
मदीय तू सद्गति, हे मनस्विनी,
मदीय तू हृद्गति रक्त-वाहिनी।

(६६)

"अये ! सुशीले ! सरसे ! सुलोचने !
मुझे सदा शैत्यद ओस-बुंद-सी,
विलोकता हूँ तुझको यथा-यथा
मदीय आशा बढ़ती तथा-तथा।

(६७)

"बड़ा पुराना इतिहास प्रेम का,
नवीन होता प्रति-याम है वही,
चिरंतनी[1] जो सरि[2] प्रीति-मार्ग की
मदीय सो मानस-भूमिका-गता।

---

[1]सनातनी। [2]नदी, प्रवाह।

(६८)

"तरग है जो अनुराग सिधु की
उमग जो यौवन-अंतरग की
वही जगज्जीवन-सार-ग्राहिणी
बनी महा सुन्दरता त्वदीय है।

(६९)

"न प्रेम आतक-भयादि-युक्त है,
न प्रेम आतंक-भयादि-मुक्त है,
स्वरूप ऐसा कुछ देवि ! प्रेम का
समान सर्वत्र अदेव-देव मे।

(७०)

"सदैव इच्छामय प्रेम-तत्त्व है,
सदैव ईहामय[1] प्रेम-भावना,
विजेय लका-सम द्वेष-दुर्ग है,
अजेय है यद्यपि स्नेह-शृखला।

(७१)

"नितान्त-एकान्त-विहार-शील दो
महान प्रेमी-जन बैठते जभी,
अवश्य उद्वेग-प्रदायिनी उन्हे
व्यथा-कथा, पागल-प्रेम की प्रथा।

---

[1]इच्छा।

(७२)

"मुझे मिली जीवन के प्रभात, में
अमूल्य भिक्षा प्रभु पार्श्वनाथ से,
मनोरमे! जीवन की, सु-प्रेम की,
तथा तुम्हारे हृदयानुराग की।

(७३)

"अगाध रत्नाकर[1] के तले, प्रिये!
समुच्च प्रालेय-गिरीन्द्र[2]-शृंग पै,
प्रशस्त पाता पथ प्रेम सर्वदा
न प्रीति-सम्स्थान कहाँ त्रिलोक में?

(७४)

"न प्रेम की प्राथमिकानुभूति से
पवित्र कोई अधिका विभूति है।
विचित्र है मानस के विहग की
त्वरामयी[3] अंशुक[4]-पक्ष-विक्रिया।

(७५)

रहस्य-पूर्णा मम जीव-वल्लकी[5]
अदृष्ट-हस्तोद्धृत भंकृता हुई,
समस्त-रागाधिप प्रेम-राग की
छिड़ी प्रिये! 'सा' सुत की त्रिसप्तकी[6]।"

---

[1]समुद्र। [2]हिमालय। [3]शीघ्रता-युक्त। [4]किरणों से बनी हुई, रेशम-सी हलकी और सुनहले रंगवाली। [5]वीणा। [6]तीसरे सप्तक की।

(७६)

"प्रभो ! मुझे हो किस भाँति चाहते ?"
"यथैव निःश्रेयस चाहते सुधी"
"प्रिये ! मुझे हो किस भाँति चाहती।"
"यथैव साध्वी पद पार्श्व-नाथ के।

(७७)

"यथा कली ने तरु-वृन्त[1]-सस्थिता
प्रकाश पाया, कि खिली प्रसन्न हो,
तथैव मेरी सुत-कामना, प्रभो !
प्रफुल्ल है प्रेम-रसानुषिक्त हो।"

(७८)

"प्रिये ! तुम्हारे मृदुभाव सर्वथा
सुदूर भू से रजनीश-तुल्य है,
लसा तुम्हरा मन प्रेम-पूर्ण जो
नितान्त मेरे मन के समीप है।

(७९)

"अरण्य, केदार[2], निकुज, वापिका,
नगेश, तारेश, दिनेश आदि से
अवाप्त आनंद समस्त भूमि से
मिला तुम्हारे अभिराम[3] प्रेम मे।

---

[1]टहनी। [2]खेत । [3]सुन्दर।

(८०)

"न प्रेम प्रालेय[1], विदाह भी यही,
न प्रेम राकेश, दिनेश भी यही,
न प्रेम है रुग्ण, अमर्त्य भी यही,
न हार ही, प्रत्युत[2] प्रेम जीत है।

(८१)

"मनुष्य जो प्रेम-निमित्त दुख के
समुद्र को पार करे वही, प्रिये !
वरेण्य है मानुष से न जो कभी
व्यतीत स-स्नेह स्व-आयु को करे।

(८२)

"न वीरता, बुद्धि-बलिष्ठता, तथा,
न रूप-सौन्दर्य्य, गुणानुवृत्ति भी,
बने कभी भाजन[3] स्नेह-तत्त्व के;
नितान्त अज्ञात प्रवृत्ति प्रेम की।

(८३)

प्रिये ! यथा सूर्य्य-मुखी प्रसून की,
प्रवृत्ति सूर्य्याभिमुखी प्रसिद्ध है।
तथैव मेरे मन की नियुक्ति भी
हुई तुम्हारे वदनारविन्द में।

---

[1]बर्फ। [2]अपितु। [3]पात्र।

(८४)

"वहित्र-सा जीवन मध्य-रात्रि के
पड़ा रहा चंद्र-विहीन सिधु में;
मिला न दिग्सूचक-[1]यंत्र सा जभी
प्रिये ! तुम्हारा कर, मैं दुखी रहा।"

(८५)

"प्रकाश से शून्य अपार व्योम मे
उड़ी, बनी आश्रित-एक-पक्ष मैं
मिला नही, नाथ ! द्वितीय पक्ष-सा
जभी तुम्हारा कर मै दुखी रही।"

(८६)

"प्रताप से, जीवन. से, प्रकाश से
प्रिये ! सदा हो अति प्रेयसी मुझे;
बहा कभी था अनुराग-उत्स जो
प्रवाह-संयुक्त अजस्र[2] हो रहा।"

(८७)

"समीर-सी प्रेम-तरंग है, प्रभो !
न ज्ञात है आगम-निर्गम-स्थली,
अवाध[3] तो भी बहता प्रवाह है
नसों-नसों मे मुझ प्रेम-प्राण के।"

---

[1]कम्पास। [2]निरतर। [3]अप्रतिहत-गति।

(८८)

"दुरूह है प्रेम-रहस्य जानना,
न ज्ञात है कंटक है कि डंक है,
कि अग्नि हो वाडव की, मनोरमे !
सुखा रही जीवन[1] विश्व-सिंधु का।"

(८९)

प्रभो ! मुझे ज्ञात कदापि है नही,
सुधाक्त[2] है प्रेम, विषाक्त वस्तु या,
अनादि-माधुर्य्य-भरी विभूति है,
अनन्त-काकोल[3]-मयी प्रसूति है।

(९०)

"समक्ष स्वर्गीय—प्रभाव प्रेम के
समृद्धि सारी अति तुच्छ भूमि की,
न प्रेम के है अतिरिक्त प्रेम का
सुना गया मूल्य समस्त विश्व में।

(९१)

"समस्त वृन्दारक[4] देव-धाम के
विनाश दे अतर देश-काल का,
सुरेश दो प्रेमिक-प्रेमिका मुदा
हिला-मिला दे, मम प्रार्थना प्रभो !"

---

[1]जल। [2]अमृत-सिंचित। [3]विष। [4]देवता।

(९२)

"प्रिये ! सदा सुन्दर प्रेम-भावना
प्रपूर्णता है नियमानुवृत्ति[१] की,
कि द्वैत[२] का तात्त्विक मूल-रूप है
कि एकता है युग चित्त-वृत्ति की ।"

(९३)

"विभावना[३] ईश-प्रदत्त प्रेम की
कही अनैसर्गिक सपदा गयी,
विलोचनों के, प्रभु ! एक बुन्द मे
प्रतीत सारी वसुधा लखी गयी ।"

(९४)

"रहस्य से पूर्ण सहानुभूति है,
कि प्रेमियो के मन की प्रसूति[४] है,
प्रिये ! मुझे प्रेम-स्वरूप भासता
सु-लभ्य भू मे विभु की विभूति है ।"

(९५)

"प्रभो ! सदा यौवन-पूर्ण प्रेम की
वसन्त-शोभा जग मे बनी रहे ।"
"प्रिये ! सदा प्रेम-रसावलंबिनी
लगी झड़ी प्रावृट्[५] की घनी रहे ।"

---

[१]नियम पालने की प्रवृत्ति । [२]द्वैधीभाव । [३]विचार । [४]जन्म । [५]वर्षा ।

(९६)

"सभी प्रजा शासित प्रेम-भूप से
विलोकिये मर्त्य-अमर्त्य-लोक मे,
कि प्रेम ही, हे प्रभु ! देव-लोक है,
कि स्वर्ग ही अन्य स्वरूप प्रेम का।"

(९७)

"प्रिये ! सदा प्रीति प्रशान्ति-काल की
बनी स-शक्ता परिवादिनी[1]-समा,
अशान्ति मे भ्रान्ति-हयाधिरोहिणी[2]
सँवारती आकृति कान्ति-कारिणी।"

(९८)

"न प्रेम को नाथ ! प्रतीति अन्य की,
स्वकीय जिह्वा करता प्रयुक्त है,
प्रवृत्त हो दो दृग बातचीत मे
कदापि मध्यस्थ न चाहिए उन्हे।"

(९९)

"कराह प्रेमी हृदयाब्धि से, प्रिये !
उठी, बनी पुण्य-पयोद-मडली।
तथैव प्रेमाग्नि क्षण-प्रभा बनी,
दृगम्बु-बुन्दावलि धार-सी गिरी।

---

[1]वीणा। [2]भ्रान्ति के घोड़े पर सवार।

(१००)

"अगाध गभीर समुद्र-सी, प्रभो !
उदारता दिव्य त्वदीय चित्त की
प्रदत्त होती मुझको यथा-यथा,
अतीव अक्षय्य[१] लसी तथा-तथा ।"

(१०१)

"प्रिये ! तुम्हारी रसना रसाल से
मदीय आत्मा मुझको पुकारती,
स-प्रेम सगीत-समान सौख्यदा
प्रतीत राका-शशि के तले मुझे ।"

(१०२)

"प्रभात के आगम पै तुम्हे, प्रभो !
न मै तजूँगी निज नेत्र से कभी,
मिलिन्द के प्रेम-प्रभाव से मुदा
सरोजिनी[२] ज्यों बनती कुमोदिनी[३] ।

(१०३)

दिनेश के आशुग[४] अशु-तुल्य है
विचार ही अग्रग[५] दूत प्रेम के,
इसीलिए स्नेह-पतत्र[६]-सग मे
समीर की भाव-तरग जा रही ।"

---

[१]न क्षीण होनेवाली । [२]दिवा-विकासी कमल । [३]निशा-विकासी कमल । [४]घोड़ा । [५]अग्रगामी । [६]पख ।

(१०४)

"प्रिये! तुम्हारी मुख-तुल्यता लिये
निशेश शोभा नभ की बढा रहा,
समस्त तारे मधु-पात्र से लसे
इसीलिए है निशि सर्व-वल्लभा[1]।"

(१०५)

"न आयुधो से विच्छिन्न प्रेम है,
न दग्ध होता वह अग्नि से कभी,
नही जल-प्लावन के अधीन, जो
अभेद्य आतमा, अविछेद्य प्रेम है।"

(१०६)

"पतग हो, या कि प्रदीप हूँ, प्रिये!
पतंग हूँ, या कि प्रदीप हो तुम्ही;
रसाल हूँ, या पिक हो, न ज्ञात है,
रसाल हो या पिक हूँ, रहस्य है।"

(१०७)

"प्रतीत होती मुझको अहो, प्रभो!
सनातनी पद्धति प्रेम-तत्त्व की
न भान होता कुछ देश-काल का
न आदि की भीति, न अंत की भिया[2]।"

---

[1]सर्व-प्रिया, वेश्या। [2]भय।

(१०८)

"विहंग हो सो उड़ जाय व्योम में,
उदार दानी कुछ और दान दे,
परन्तु मेरे कुछ-और पास मे
न प्रेम के है अतिरिक्त, हे प्रिये !"

(१०९)

"सरोज-सा है यदि प्रेम, हे प्रभो !
भवान[1] भी तो दल-तुल्य दिव्य है,
बराटकी[2] जीवन-संगिनी बनी
बढा रही हूँ शरदम्बु-सपदा ।"

(११०)

"न लोभ होता सुर-धाम मे, प्रिये !
न लाभ होता नरकाधिवास मे;
न काम होता जिस प्रेम-लोक मे
प्रसिद्ध भू मे अपवर्ग[3] है वही ।"

(१११)

"प्रभो ! महाकोमल-चित्त प्रेम को
न मान देते वह लोग मूर्ख है,
बलिष्ठ ऐसा यह है कि सर्वदा
प्रसह्य[4] पाता जय बुद्धिमान पै ।"

---

[1]आप । [2]बेचारी । [3]मुक्ति । [4]बरबस ।

(११२)

"प्रिये! हमारा यह प्रेम सर्वदा
स-हर्ष आलिगन आपका करे,
त्वदीय आगा पुलकावली गहे,
मदीय वक्षस्थल अश्रु से भरे।

(११३)

"न ओष्ठ-पत्र-स्थित प्रेमकी कथा,
महा निगूढा,[1] हृदय-स्थिता तथा,
अतीत के गह्वर मे छिपी, प्रिये !
जहाँ न जाता इतिहास कीर्ति का।"

(११४)

"प्रभो ! वहे प्रेम-प्रवाह सर्वदा
वना रहे स्नेह-स्वभाव विश्व मे,
निगेश चाहे वन नील नष्ट हो
दिनेग चाहे तम-खड ही वने।"

(११५)

"प्रिये ! समस्तोत्तम[2] प्रेम-भाव है,
प्रवीरता ही करता प्रदान है,
—न वीर पाते गति युद्ध-भूमि में,
सती न पाती पति अन्य जन्म में।"

---

[1]गुप्त। [2]सर्वश्रेष्ठ।

(११६)

"सदैव वासन्तिकता-प्रपूर्ण जो,
अवाप्त[1] हेमन्त न प्रेम-वर्ष को,
प्रभो ! इसी के युग अग्र-दूत है,
मिलिन्द प्रेमी, मृदु प्रेमिका पिकी ।"

(११७)

"प्रियाल से प्रेम हुआ मुझे, प्रिये !
तदा रहा केवल पारिजात से,
परन्तु पीछे उस पुष्प से हुआ
छुवा जिसे तो फलवान हो गया ।"

(११८)

"प्रभो ! निराकार त्वदीय प्रेम यों
प्रसून साकार-चरित्र हो गया,
कि कंदली[2]-युक्त बनी सरोजिनी
मुखाग्र पै पीत पराग छा गया ।"

(११९)

स-प्रेम पारस्परिका कथा चली
अतीव संगभित विश्व-तत्त्व से,
तथैव सम्राज्ञि-सहानुभूति में
हुयी पिशगा शरदिन्दु-चंद्रिका ।

---

[1]प्राप्त । [2]लता ।

(१२०)

हुई प्रतीची शशि-गर्भ-सयुता,
तथैव प्राची रवि-अर्भ[1]-गर्भिता,
बनी निशा पूत-प्रभात-गुर्विणी[2]
समस्त भू गर्भ-कठोरता-मयी।

(१२१)

प्रभात मे छोड सरोजिनी यथा
मिलिन्द होता बहु मुग्ध सर्वथा;
तथैव सिद्धार्थ विमुग्ध-चित्त हो
चले मुदा श्रीत्रिशला-निवेश से।

[द्रुतविलंबित]

(१२२)

यह प्रसंग पुरातन प्रेम का
समय-लब्धि[3] जिसे न बता सकी,
प्रकट आज हुआ जिस यत्न से
वह अकथ्य कथा, कहना वृथा।

---

[1]बालक। [2]गर्भवती। [3]शुभ-समय, सुयोग।

छठा सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

प्रभात से ही सब दिक्कुमारियाँ
विशुद्ध-वस्त्रा बन छद्म-वेषिणी,
लगी सपर्य्या[1] करने चतुर्दिशा
जिनेन्द्र-गर्भा त्रिशला ललाम की।

(२)

कुमारियाँ वे सखि-रूपिणी सभी
अजस्र सेवा करती स-प्रेम थीं;
सँगीत गाती बहु गीत[2]-मोदिनी
विमुग्ध स्वर्गाधिप-वामलोचना[3]।

(३)

सभी उपादान[4] पवित्र स्नान के
समस्त पूजा-व्यवधान[5] आदि ले
खड़ी हुई थी त्रिशला-समीप ही
सखी-स्वरूपा त्रिदिवेश[6]-कामिनी।

---

[1]पूजा, सेवा। [2]किन्नरियाँ। [3]शची अथवा देवियाँ। [4]साधन। [5]प्रबन्ध। [6]इन्द्र।

(४)

सजा रही मंगल-द्रव्य सामने
लजा रही थीं [1]नति को नतांगि के,
मिलिन्द-जाया-सम लोटती हुयी
विनम्रता से त्रिशला-पदाब्ज में ।

(५)

विमुग्ध-चित्ता करती अजस्र थीं
समस्त आयोजन-भोजनादि के,
अनेक देवी शयनांक-सज्जिनी
बिछा रही थी नव पुष्प प्रेम से ।

(६)

अनेक धोती पद-पद्म भक्ति से,
अनेक आभूषण साजती रहीं,
अनेक थीं अंशुक[2] से सँवारती,
अनेक ताम्बूल प्रसाधती[3] रहीं ।

(७)

प्रकीर्ण था जो बहु पुष्प-धूलि से
निवेश का प्रांगण थी बुहारती
अनेक-योषा मृग-भेद नीर से
निवास-आसिचन-दत्त-चित्त थी ।

---

[1]झुकावट । [2]रेशमी वस्त्र । [3]बनाती ।

(८)

दिवौकसी[1] रत्न-प्रदीप-दर्शिनी
विभावरी-आगम मे विमुग्ध थी;
अनेक लेके असि गर्भ-रक्षिणी
निवेश-रक्षा करती अजस्र थी।

(९)

विलोक हेमन्त प्रवृत्त लोक मे
जिनेन्द्र-गर्भ-स्थिति-रक्षणार्थ ही,
तुरंत सप्ताशुग[2] पै सवार हो
दिनेश ने भी धनु हस्त[3] मे लिया।

(१०)

दरिद्र-आशा-सम शीत-यामिनी
बढी कि तृष्णा अनुदार-चित्तकी;
कि द्रौपदी के पट-सी प्रलंबिनी
सुदीर्घ हैमन्तिक [4]शर्वरी हुयी।

(११)

हिमोज्वला, दन्त-कचोज्वला महा,
तथैव मंद-द्युति-ताराकाकृती
शनै. शनै: हो द्विगुणी[5]-कलेवरा
नितान्त वृद्धा-सम यामिनी चली।

---

[1]देवियां। [2]सात घोडे। [3]हेमन्त मे सूर्य्य धनु राशि में प्रविष्ट होता है।
[4]निशा। [5]टूट कर दोहरी हो गई।

(१२)

नवांगना की रति-कामना-समा,
तथैव लज्जा इव प्रौढ़ नारि की,
कि स्वैरिणी[१] की नियमानुवृत्ति-सी
अदृश्य होती क्षण- मे दिन-प्रभा।

(१३)

स-भास यों कोरक[२] कुंद-पुष्प के
विराजते पल्लव-अंतरिक्ष में,
यथैव हो शीत-विभीत तारिका
छिपी हुयी कुंद-लता-समूह मे।

(१४)

दिनेश का आतप मंद हो गया,
निशेश की भी अति शीत चंद्रिका,
महान व्यापा शिशिरर्तु-शैत्य यों
न अग्नि मे तेज रहा विशेष था।

(१५)

निवेश-वातायन-काच-पीठ पै
तुषार[३] के चित्र विचित्र हो गये;
सुकर्णिका[४] के, सरसीरुहादि के
अनूप थे गुच्छक-से लसे हुये।

---

[१]पुश्चली स्त्री। [२]कलियाँ। [३]पाला। [४]गुलाब।

(१६)

तुषार पै वज्र-कपाट बंद हों,
निवार दे पुष्ट छते समीर को,
हिमांशु वातायन से न आ सके,
प्रयत्न-सा था त्रिशला-निवेश में।

(१७)

प्रभात मे पादप-शृग पै गिरे,
बने रहे, पुष्कल[1] ओस-बुद यों,
रहे दिखाते निज सप्त-रग वे
नरेन्द्र-जाया जबलौ जगे नही।

(१८)

प्रसून सोते हिम-खड के तले
वसन्त के स्वप्न विलोकते हुये;
पड़ी प्रसुप्ता त्रिशला-निवेश मे
लिए हुये एक रहस्य गर्भ मे।

(१९)

अतंद्र-नि.श्वास प्रभात जानके
तुषार के शायक छोड़ने लगी,
विदारती है हृद[2] शीत-रात्रि का
निशान्त-कारी रवि की शरावली।

---

[1]अधिक संख्या मे। [2]हृदय।

(२०)

"जगो, जगो, देवि ! प्रभात हो गया,
उषा समारूढ़ हुई निशान्त पै,
जगज्जयी केवल एक काल है,
अत. उठो, हे समयानुवर्तिनी[1] !"

(२१)

सुनी सु-वाणी सखि-वृन्द की मुदा
जगी मनोज्ञा त्रिशला प्रभात में
परन्तु शीतर्तु उषा-समान ही
अनल्प[2] लेटी निज तल्प[3] में रही।

(२२)

कठोर-गर्भा त्रिशला विलोक के
स-प्रेम आयी सखियाँ समंतत.,
मनोज्ञ प्रश्नोत्तर से स-मोद वे
लगी रचाने बहलाव चित्त का।

(२३)

दिवौकसी, सुन्दरि, छद्मवेषिणी
स-तर्क शंका करने लगी सभी;
जिनेन्द्र-गर्भ-स्थित है कि अन्यथा
लगी परीक्षा करने अनेकश.।

---

[1]समय के अनुसार अनुवर्तन करनेवाली। [2]बड़ी देर। [3]भूला।

(२४)

"विरक्त हो कामुक जो महान है,
निरीह[1] है, इच्छुक है अवश्य जो,
नरेन्द्र-जाये ! त्रिशले ! शुभे ! अहो !
कहो परात्मा प्रभु कौन विश्व मे ? ।

(२५)

'अदृष्ट है कौन, तथापि दृष्ट है ?
स्वभाव से निर्मल कौन लोक मे ?
महार्ह[2] है किन्तु न देव-रूप है ?
दयार्द्र है, देह-दया-विहीन है ?"

(२६)

नृपाम्बिका ने सब प्रश्न यो सुने,
दिया नहीं उत्तर व्यक्त रूप से,
परन्तु होके नत-लोचना मुदा
विलोकने कुक्षि लगी मदालसा ।

(२७)

"अगाध-संसार-पयोधि मे, शुभे !
न डूबने दे वह पोत[3] कौन है ?
नृपाल-भार्य्ये ! कृपया बताइए,—
"वहित्र[4] अर्हंत-पदारविन्द का" ।

---

[1]इच्छा-हीन । [2]महँगा, दुर्लभ । [3]नाव । [4]जहाज ।

(२८)

"नृपेन्द्र-जाये ! गुरु कौन श्रेष्ठ है ?"
"त्रिलोक-आलोक-प्रदातृ, देवियो !
जिनेन्द्र-नामा गुण मे उदात्त जो
प्रसिद्ध जो कर्म-कृतात[1] नाम से ।"

(२९)

"सु-शास्त्र प्रामाणिक कौन श्रेष्ठ है ?"
"सदा सभी ससृति[2] का हितेच्छु जो,
तथैव अष्टादश-दोष-हीन जो
सदा अहिसा करता प्रचार हो ।"

(३०)

"विनाशिनी जो भव-मृत्यु-दु ख की
कहो सुधा-सी वह वस्तु कौन है ?"
"जिनेन्द्र के आनन-कंज-कोष से
मनोरमा नि सृत[3] वाक्य की सुधा ।"

(३१)

"कहो, शुभे ! ध्येय पदार्थ क्या यहाँ ?"
"महान कल्याणक[4] जैन-शास्त्र ही ।"
"कहो, कहो भू-पर गेय वस्तु क्या ?"
"जिनेन्द्र-द्वारा-परिगीत[5] तत्त्व ही ।"

---

[1]यम । [2]ससार । [3]निकली हुई । [4]कल्याण करनेवाले । [5]कहा हुआ ।

(३२)

"दुरन्त भू में अदुरन्त कार्य क्या ?"
"स्व-कर्म-नाशी जिन-धर्म-धारणा।"
"त्रिलोक में सग्रहणीय वस्तु क्या ?"
"स्व-धर्म जो नाशक कर्म-लोक का।"

(३३)

"कहो, अये! लक्षण जैन-धर्म के,"
"तपादि-रत्न-त्रय-शील स-क्षमा,
दयालु जो युक्त अणु-व्रतादि[1] से
प्रसिद्ध भू में अति सौम्य सर्वदा।"

(३४)

"नरेन्द्र-वामे! फल धर्म का कहो,"
"त्रिलोक-स्वामित्व, जिनेन्द्र-सपदा,"
"समस्त धर्मी जन कौन विश्व में ?"
"प्रशान्त, सत्युद्र, गताभिमान जो।"

(३५)

"कहो कि क्या पाप धरित्रि में, शुभे ?"
"असत्यता, क्रोध, कषाय आदि ही।"
"कहो कि क्या है फल पापका, अये!"
"मनुष्य की दुर्गति, रोग, मृत्यु ही।"

---

[1]अणु-व्रत, महाव्रत आदि।

(३६)

"अघी कहेंगे किस निन्द्य जीव को ?"
"कषाय-क्रोधादिक-युक्त जो कि हो,"
"कुबुद्धि, लोभी जन कौन है, शुभे !"
"सदैव जो द्रव्य लहे अधर्म की।"

(३७)

"अये ! कहो कौन विचारवान है ?"
"अदोष-शास्त्रज्ञ, सदैव सयमी।"
"धरित्रि मे कौन सु-धर्म-वान है ?"
जिनेन्द्र-सेवा-व्रत प्रेय[1] हो जिसे।"

(३८)

"नृपाल-जाये ! पर-लोक-पान्थ का
कहो कि क्या संबल[2] है यथार्थत ?"
"जिनेन्द्र-पूजा, उपवास, दान के
समेत शील, व्रत, सयमादि ही।"

(३९)

"स्वकीय ले जन्म कहो कि भूमि मे
हुआ फलीभूत मनुष्य कौन-सा ?"
"जिसे मिला उत्तम भेद-ज्ञान, जो
कि पा सका सत्तम[3] मोक्ष-सपदा।"

---

[1]प्रीति-पात्र। [2]मार्ग का भोजन। [3]उत्तम, सर्व-श्रेष्ठ।

(४०)

"कहो सुखी कौन, नरेन्द्र-योषिते !"
"परिग्रहों की तज व्याधियाँ सभी
मनुष्य ध्यानामृत-पायि[1] सर्वदा
निवास जो हो करता अरण्य में"

(४१)

"सु-वस्तु भू मे परिचिंतनीय क्या ?"
"विनाश दुर्जेय स्व-कर्म-शत्रु का"
"सुभर्तृके ! संग्रहणीय वस्तु क्या ?"
"अक्षय्य नि श्रेयस-सिद्धि-कल्पना[2] ।"

(४२)

"करे समुद्योग कहाँ, वरांगने ?"
"तपादि रत्न-त्रय प्राप्त हों जहाँ ।"
"प्रशंसनीया किसकी सुवृत्ति है ?"
"सु-पात्र-दानाश्रय जो गहे सदा ।"

(४३)

"कहे किसे मित्र ? बताइए हमे,"
"छुड़ा सके जो अघ-ओघ से तुम्हे ।"
"मनोरमे ! भू पर कौन शत्रु है ?"
"न पालने दे व्रत धर्म जो तुम्हे ।"

---

[1]पीनेवाला । [2]रचना ।

(४४)

"नृपालिके ! कौन समान आपके
जिनेन्द्र के तुल्य सु-पुत्र-जन्म दे,
कि कौन माता ? कृपया बताइए,"
"जने मुदा कर्म-करी-मृगेन्द्र जो ।"

(४५)

"नतभ्रु ! पाण्डित्य-यथार्थ-रूप क्या ?"
"अघौघ-क्रोधादि-कषाय छोडना ।"
"कहो, कहे सुन्दरि ! मूर्ख भी किसे ?"
"स्वधर्म की जो अवहेलना[1] करे ।"

(४६)

"कहे किसे वीर ?" "कि धर्म-शस्त्र से
सँहारता जो अरि काम-क्रोध-से ।"
"कहे किसे देव ?" गुणाढ्य, विज्ञ, जो
क्षुधादि अष्टादश-दोष-शून्य हो ।"

(४७)

नरेश-जाया-कृत उत्तरावली
सहेलियों ने सुन हृष्ट-मानसा[2]
निरोष्ठ्य[3]-शब्दावलि-युक्त वाक्य से
लगी प्रशसा करने पुन· पुनः ।

---

[1]तिरस्कार । [2]प्रसन्न-चित्त । [3]पवर्गके अतिरिक्त अक्षर ।

(४८)

"त्रिलोक का नाथ, अधीन-संश्रयी
व्रती दया-गेह त्वदीय सूनु हो,
हुई सुनेत्रे ! उदरस्थ सत्य ही
अतीव कल्याणकरी विभूति है।"

[द्रुतविलंबित]

(४९)

सखि-समूह-प्रशंसित सुन्दरी
उठ पड़ी त्रिशला शयनाक से,
जिस प्रकार पयोधर-तल्प से
उठ पड़ी चपला[1] घन-वल्लरी।

[वंशस्थ]

(५०)

उसी घड़ी पूर्व-दिशा-प्रकाशिनी
किया उषा ने अमिताभ व्योमको,
दिशा-दिशा में उगते दिनेशकी
दिगन्त-व्यापी यह घोषणा हुई —

(५१)

"विलोक लो, है शुभ वार आ गया
यही तुम्हें जीवन[2] है विशेषतः,
उठो, उठो, ईश्वर प्रार्थना करो,
जगो, जगो सत्वर कार्य में लगो।

---

[1]शीघ्र-गामिनी। [2]वर्तमानकाल ही मनुष्य का जीवन है।

(५२)

"यथार्थता, जीवन की विशेषता
विभिन्नता, जीव-समूह-साम्य भी
भरे हुये है इस एक बार[1] में
अतः करो यापन[2] दिव्य-काल का ।

(५३)

"भरा हुआ उन्नति-सौख्य से मुदा,
सजा हुआ कर्म-महत्त्व से सदा,
समस्त-सौदर्य्य-प्रभाव-युक्त है
यही महा मंजुल वार आज का ।

(५४)

"सुमेरु के मानस से उड़ा, हुआ
मराल-सा उज्ज्वल, वार आ गया,
अमर्त्य-संदेश लिए हुए चला
अनूप पूर्व-क्षुप[3]-शेखरस्थ है ।

(५५)

"गया, विलोको, वह वार व्यर्थ ही,
कि अस्त होता जिसका तमिस्रहा
लखे कि कोई शुभ कार्य्य आपके
सु-कार्य-कारी कर से न हो सका ।

---

[1]'आज' का वर्णन-प्रारंभ । [2]बिताना । [3]वृक्ष ।

(५६)

"विभावरी[1] के तम-पृष्ठ पै कहीं
नितान्त अज्ञात सु-दूर देश में
दिनेश, जाती[2]-सुम के समूह-सा,
विलोकता था क्षण वार-जन्म का।

(५७)

"अनादि का और अनन्त का हुआ
अनूप यों संगम आज व्योम में,
प्रभात-प्याला उफना उठा, अहो!
गिरा रहा उज्ज्वल धार तेज की।"

(५८)

कठोर-गर्भा त्रिशला मदालसा
निवृत्त होके निज नित्य-कर्म से
विलोकती वासर-कान्ति सुन्दरी
इतस्ततः प्रांगण में बिछी हुई।

(५९)

कभी-कभी सो पद मंद-मंद दे
निवेश में थी चलती सुलोचना;
चतुर्दिशा सम्यक दृष्टि-पात से
बिछा रही उज्ज्वल नील कंज थी।

---

[1]रात्रि। [2]पीली चमेली।

(६०)

समस्त-कर्तव्य-परायणा सखी
अजस्र संलग्न स्वकीय कार्य मे;
विनोद देती सब भाँति-भाँति के
मुदा सपर्य्या रचती प्रकाम थी।

(६१)

निवृत्त हो दैनिक कार्य-भार से
सहेलियाँ चंग-मृदंग-वाद्य ले
तुरन्त गाने लगती स-मोद वे
पिकी-मयूरी-चिमि[1]-चातकी-समा।

(६२)

अनूप ताल-स्वर-युक्त राग वे
मुदा सुनाती ध्वनि तीव्र मंद्र से,
नरेन्द्र-जाया शयनाक-सस्थिता
गँभीर-भावा सुनती स-मोद थी।

(६३)

स-झाल-मंजीर-विषाण[2]-वेणुका
सुषीर-आनद्ध[3]-समस्त वाद्य से
सहेलियो की कल काकली मिली
सुगीति रानी सुनती प्रमोद से।

---

[1]शुकी। [2]शृग। [3]विविध प्रकार के ताल एव मुँह से वजने वाले वाजे

(६४)

चली जया[1] की तनु[2] अगुली तभी
विपञ्चिका पै अति तीव्र चाल से,
चली कि झकार-समुद्र-अग मे
चढाव-कल्लोल, उतार-ऊर्म्मिका[3]।

(६५)

मृदंग पै जो विजयागुली[4] पडी
स-ताल मंद्र-स्वर थी निकालती,
तडिल्लताएँ जिस भाँति मेघ से
उछालती हो ध्वनि अंतरिक्ष मे।

(६६)

कलावती[5] की मृदु मीड़ वीन पै
समाप्त होती इस भाँति थी नही,
बजे हुए वेणुक[6] के दिगन्त मे
न अत होता जिस भाँति शब्द का।

(६७)

नरेन्द्र-जाये ! तव प्रेम-गीत से
सुनो, उठी गा सकला सहेलियाँ;
विराजिता प्रावृट् आम्र-कुंज मे
अलापती है यह कुंज-कोकिला।

---

[1]सखीविशेष। [2]पतली। [3]लहर। [4]विजया सखी की अगुलियाँ।
[5]सखीविशेष। [6]वशी।

(६८)

पराग-सा प्रेम स-राग भासता
कि पंखड़ी-सा पद एक-एक है,
सुगंध फैली स्वर की विकस्वरा[1]
सँगीत भी कंज-प्रसून-तुल्य है।

(६९)

वता, सखी! गीति-निनाद-मोद ने
निसर्ग से जन्म लिया कि स्वर्ग से
कि सृष्टि की है यह भूति[2] आदिमा
सुपर्व-संदत्त[3] कि सिद्धि अंतिमा।

(७०)

संगीत से मानव ही न मोहते,
विमुग्ध होते मृग भी सुने गये,
पयोद ही हैं घिरते न व्योम में;
प्रदीप भी हो उठते प्रदीप्त हैं।

(७१)

संगीत के शब्द सितार-तार मे
प्रसुप्त थे जो श्रुति[4] से परे अभी,
नृपालिका के मन के प्रमोद को
दयावती[5]-अंगुलि ने जगा दिया

---

[1]विकसनशील। [2]विभूति, घन-शोभा। [3]देवता-प्रदत्त। [4]श्रावण-शक्ति। [5]सखीविशेष।

(७२)

नरेन्द्र-जाया-हृदयानुभूति को
न गीत-प्रेमामृत स्थैर्य्य दे सका।
वरंच आयी जठरस्थ-पुत्र मे
त्रिलोक-विस्फूर्ति-प्रदातृ-चालना।

(७३)

प्रियवदा[1] के मुरली-निनाद से
प्रवाहिता होकर भाव-भूमि मे
हुई समुत्सारित श्रोतृ-श्रोत्र[2] में
प्रसन्न—गभीर-पदा रसापगा।

(७४)

सँगीत मे है जिस भाँति काव्य मे,
कला अनता अनवाप्त यत्न से,
जिसे कि कोई जन सिद्ध-हस्त ही
दिखा सका है अनवद्य[3] भाव से

(७५)

सुविक्रमी वीर कृपाण-धार से
किरीट लेता हर भूमिपाल का,
परन्तु सँगीत-सुविज्ञ सर्वदा
स्वराज्य-भोक्ता वनता त्रिलोक मे।

---

[1]सखी का नाम। [2]सुननेवालो के कान। [3]पवित्र।

(७६)

विपंचि ! तेरे तनु[1] एक तार ने
हिला दिया राग-विहीन गर्भ भी;
यही प्रशंसा भवदीय न्यून क्या
कि जो पुन. लीन हुई स्व-राग मे ।

(७७)

न देव होते अभिभूत क्यों, शुभे !
सँगीत देवालय-योग्य वस्तु है,
न युक्त संगीत-प्रभाव से हने
कुरंग को व्याध; अमाप[2] पाप है ।

(७८)

लिखा गया दिव्य सँगीत सर्वदा
दिगंत-पृष्ठों पर नाक-लोक के,
कहा गया है उस शब्द मे कि जो
प्रसिद्ध भाषा सुमना[3]-समाज की ।

(७९)

समोद गावो अतएव, देवियो !
निरंतरास्वादन-दत्त-चित्त हूँ;
विधान सौधर्म्म-महेन्द्र का यही,
सँगीत है दान महान ईश का ।

---

[1]कोमल । [2]अत्यन्त । [3]देवता ।

(८०)

विपंचिके ! धात्विक शब्द तावकी[1]
विमोहते जीवित-भृंग-मंडली,
मनोरमा है ध्वनि भासती मुझे
सुकोमला नाद-कला अकथ्य है।

(८१)

सरस्वती लेकर बीन स्वर्ग मे
निसर्ग के आदिम-काल मे पुरा
लगी जभी सुन्दर गान छेडने
हुई स्वयभू-श्रुति अष्ट-श्रोत्र[2] की।

(८२)

निनाद होता अति शुष्क पर्ण में,
अजस्र गाती सरि-धार गीति है;
मनुष्य के हो यदि कान, तो सुने
सँगीत व्यापा वन-अद्रि-व्योम मे।

(८३)

सँगीत आत्मा त्रसरेणु[3]-व्यापिनी
त्रिलोक-स्रष्टा विभु से रची गयी;
प्रसिद्ध भू मे श्रुतियाँ न चार ही
वरंच द्वाविंशति[4] है, अनन्त है।

---

[1]तेरे। [2]ब्रह्मा। [3]वह कण जो वायु में अदृष्ट उड़ते रहते हैं। [4]बाईस।

(८४)

अहो! तुम्हारे, सखियो! सँगीत से
प्रसन्न आत्मा मम हो रही मुदा,
द्यु-लोक-गामी रथ पै सवार-सी
जिनेन्द्र-मार्गाभिमुखी बनी अभी।

(८५)

सुनी तुम्हारी मृदु गीतिका जभी
पयोद आये घिर प्राच्य[1]व्योम मे,
अहो ! तुम्हारे पट से सुरंग ले
उगा, हुआ सुन्दरि ! इन्द्र-चाप है !

(८६)

हुई प्रतीची अनुरंजिता, तथा
प्रसन्न होता रवि अस्तमान है;
विमुग्ध प्राची-घन मे उगा हुआ
सुरेन्द्र-कोदंड[2] विराजमान है।

(८७)

नही रँगों से यह है बना हुआ
न स्वर्ण से, पारद से न ताम्र से;
स-जीव कोई घन तत्त्व है कि जो
प्रशस्त स्वर्गीय महत्त्व-युक्त है।

---

[1]पूर्वीय। [2]धनुष।

(८८)

प्रकाश के ले वह अंशु[1] सूत्र-से
सम्हाल यामा[2] निज चातुरी-तुरी[3],
सुवायिका[4]-सी रचती अनन्त मे
समस्त-रंगी पट धूप-छाँह का।

(८९)

प्रकाश की राशि प्रशान्ति भास्वरा[5]
परात्म[6]-संदृष्ट, प्रदीप्ति शाश्वती
समृद्ध होके रचती प्रभावती
सुरेश-चापाकृति चित्त-मोहिनी।

(९०)

दिनान्त आया, गत दीप्ति हो चली,
प्रगाढ छाया-तम भासने लगा,
समाप्त सगीत हुआ निवेश मे,
प्रमोद-दायी रवि अस्त हो गया।

(९१)

कलत्र—चूड़ामणि! भूप-योषिते!
कुरंग-नेत्रे! त्रिशले! महान तू,
सुभाग्य तेरे जठरस्थ पुत्र का
न अस्त होगा इस वार-नाथ-सा।

---

[1]किरण। [2]रात्रि। [3]तागा भरी नली जो कपड़े का बाना बुनती है। [4]कपड़ा बुननेवाली। [5]प्रकाशित होनेवाली। [6]परमात्मा।

(९२)

स्वभाव, शोभा, गुण, रंग, रूप भी,
चरित्र तेरा जिनसे प्रशस्त है,
प्रभाव से ही उदरस्थ पुत्र के
न नष्ट होंगे इस इन्द्र-चाप-से।

(९३)

शुभे ! तुम्हारे हँसते कपोल पै
नृपाल का शाश्वत प्रेम राजता;
न शब्द से जो परिमेय[1] सर्वथा
अजस्र क्रीड़ा प्रति-मूर्त राग की

(९४)

नरेन्द्र-मेघ-स्थित इन्द्र-चाप-सी,
दिनान्त की सुस्मृति-सी मनोरमा,
निशान्त की नव्य उषा-समा शुभा,
प्रसिद्ध तू धर्म-दिनेश-मातृका[2]।

(९५)

वसन्त-आकाश-समान मंजुला;
सरोज-किंजल्क[3]-समान कोमला,
प्रभात-संगीत-समान सौख्यदा;
जिनेन्द्र की तू जननी प्रसिद्ध हो।

---

[1]नापी जानेवाली। [2]जननी। [3]पराग।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

जननि तू अमिताभ[1] जिनेन्द्र की
विदित है सदया नृप-वल्लभा,
हृदय यद्यपि पूर्ण वलिष्ठ है
मृदुल चित्त सिरीष[2]-प्रसून-सा।

---

[1]अत्यन्त शोभावाली। [2]सिरस का फूल।

सातवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

वसन्त आया कल-कंठ ने कहा,
वसन्त आया अलि-कीर ने कहा,
दिगन्त में, अंबर[1] मे, धरित्रि मे।
वसन्त की आगम-घोषणा हुई।

(२) ।

वसन्त-दूती मधु-गायिनी[2] पिकी
उपस्थिता मजु रसाल-डाल पै
अमद वाणी यह बोलने लगी —
"वसन्त आया, ऋतुराज आ गया"।

(३)

सुमद भाषा अलि बोलने लगे,
रसाल[3] जिह्वा शुक खोलने लगे,
अनेक पारावत[4] भूप-गेह से,
स-प्रेम बोले, 'नव वर्ष आ गया'।

---

[1]आकाश। [2]वसत में गाने वाली। [3]रस-युक्त। [4]कबूतर।

(४)

अमंद वाणी कलविंग[१]-वृन्द की
नरेन्द्र-धामस्थ-कुलाय[२] से हुई;
'महीप जागो, नव वर्ष आ गया
नरेश जागो, नव याम आ गया'।

(५)

पिकी अदूरस्थ रसाल-वृक्ष से
जता रही इंगित[३] से अजस्र थी,
कि किंशुकान्तर्गत[४] बाल-रश्मियाँ
बना रही हैं स्मर-चाप-भंगिमा।

(६)

प्रसन्न कासार-विकासि कंज मे
रमे कलालाप[५] महान मुग्ध थे
पतंग[६] के आगम से इतस्ततः
पतंग[७]-से वानर डोलने लगे।

(७)

अहो ! मरुच्चुबित-बाल-केसरी
विशाल - ताराधिप - मंडलाग्रणी,
विरक्त-रामातुर-दृष्टिवान हो
वसन्त आया हनुमान-रूप में।

---

[१]गौरैय्या। [२]घोसला। [३]इशारा। [४]पलाश। [५]मिलिन्द। [६]सूर्य्य। [७]उड़ानेकी पतंग।

(८)

विवाह था या कि रचा गया वहाँ
वनस्थली का ऋतुराज से मुदा,
पलाश-साक्षी वन अग्नि-से गये,
कि थे पुरोधा[1] पिक मंत्र कूजते ।

(९)

न सोहता सो सर कंज-हीन जो,
न सोहता भृंग-विहीन-कंज भी;
न सोहता गुंजन-हीन भृंग है,
न सोहता गुंजन माधवी विना ।

(१०)

सु-पत्र आये, फिर पुष्प भी लसे
प्रसून आये, फिर भृंग भी बसे,
हुई समुत्सारित[2] यों वनान्त में
वसन्त के आगम की प्रतिक्रिया ।

(११)

वसन्त का वायु विखेरता चला
अहो! रजो-राशि[3] विस[4]-प्रसून की;
विमुग्ध थे देख सु-मंद चाल को
मिलिन्द के पुंज लता-निकुंज में ।

---

[1]पुरोहित । [2]फैली हुयी । [3]पराग । [4]कमल-दंड ।

(१२)

मिलिन्द-घटावलि नाद-युक्त थी,
निपात होता मधु-दान[१]-वारि का,
प्रमत्त-सा कुजर-कुंज वायु यों
चला जभी अबुज कॉपने लगे।

(१३)

विहंग बोले, तरु कूजने लगे,
नदी तरंगायित हो उठी तभी,
शुचि-स्मिता थी नव मल्लिका[२]-लता
गुणोज्वला थी बहु भृंग-वल्लभा[३]।

(१४)

नृपाल-आराम प्रफुल्ल-प्राय था,
मिलिन्द-नंदा[४] नव यूथिका[५] खिली,
अपार-भृंगोत्सव-युक्त मालती
मिलिन्द-वर्षा-मय वेशिका[६] बनी।

(१५)

प्रमोदिनी[७] थी अति शीतभीरु जो
वनान्त मे कानन-चद्रिका बनी,
वसन्त मे होकर मुक्त-बंधना
सिता हुयी सो गिरिजा[८]-समान ही।

---

[१]हाथी का मद। [२]नेवारी। [३]जूही (सफेद) [४]भ्रमरो को प्रसन्न करने वाली। [५]जूही (पीली)। [६]चमेली (सफेद) [७]वेला। [८]वेला।

(१६)

हिरण्य-जाती[1] सुखदा मनोहरा
प्रियंवदा[2]-सी मन मोहने लगी।
महाकुमारी[3]-सम नाग-पुष्पिका[4]
मिलिन्द-प्रेमी-गण वर्जने लगी।

(१७)

विलोकने को मधु-मास की छटा,
सराहने को नव-पुष्प-मंजुता,
समस्त लेके निज संग में सखी
चली मनोज्ञा त्रिशला सुतालसा[5]।

(१८)

कठोर-गर्भा लख भूप-सुन्दरी
सहेलियाँ यों बहला चलीं उसे।
स-मोद गाती कुछ संग में चलीं,
प्रभा दिखाती कुछ थीं वसन्त की।

(१९)

"लखो-लखो भूतल में बिछी हुई,
महान शोभा ऋतुराज-प्रांत की,
प्रफुल्ल-प्राया कलिका-समूह से
मनोज्ञ आगम[6] बना नरेश का।

---

[1]चमेली (पीली)। [2]प्रिय बोलनेवाली, चमेली। [3]गुलाब। [4]जूही-(पीली)। [5]गर्भ-भार से अलसित। [6]बाग़।

(२०)

"स्वकीय पुष्पांचल से वसन्त भी
बिखेरता पुष्पित कुड्मलादि है,
प्रतान से पुष्प-प्ररोह-ऊर्जना
गिरा रही पुष्पज रम्य रेणु है।

(२१)

"मनोहरा देव-प्रिया वसन्तजा[1]
बना रही उत्तम पुष्प-वाटिका,
प्रमोदिनी[2] सुन्दर भद्र-वल्लरी
उपाधि पाती सित गन्धराज की।

(२२)

"लखो शुभे ! पुष्प खिले हुए यहाँ,
सुवर्ण-से देव-मुखारविन्द के,
सुगन्ध भू मे जिनकी महान है
भरी हुई मोहन-मंत्र-भेद[3]-सी।

(२३)

मनोज्ञ-सौन्दर्य्य-प्रसन्न-वर्ण में
प्रसून के प्राण छुपे हुये, शुभे !
नसों-नसो मे जिनकी नवा-नवा
स-भेद भाषा मृदु प्रेमकी लिखी।

---

[1]चमेली (पीली)। [2]बेला। [3]रहस्य।

(२४)

"विशिष्ट सद्भाव प्रसून-आस्य पै
प्रमोद, आशा, स्मित के विलोकिये;
विमोहिनी दर्शक-दृष्टि की महा
निगूढ है सुन्दरता प्रसून में।

(२५)

समस्त-सारंग-प्रतान-कुंज में
विवाहिता गंध हुयी सु-वर्ण से,
ललाम वीणा बजती मिलिन्द-सी
मृदंग की ताल पिकी लगा रही।

(२६)

बनी रुदन्ती[1] शिशिरर्तु-मृत्यु पै
जिसे हसन्ती[2] कहते सभी, शुभे!
दृगम्बु-द्वारा नव यूथिका खिली
हुई सुवृत्ता यह रक्त-बुन्द से।

(२७)

न जानता कौन मनुष्य जो, शुभे!
सदा रहा हो अभिभूत प्रेम से,
कि एकता ही करती प्रसिद्ध है
प्रसून-सभापित कोमला कथा।

---

[1]रोती हुई। [2]जूही (सफेद)

(२८)

"बजा जभी अश्रुत[1] काल-यंत्र तो
झुका दिया शीस प्रसून-वृन्त ने
विलोकिये, है कहते उसे, शुभे !
तुरन्त सर्वेश-निदेश-पालना।

(२९)

"हिरण्य-वर्णे ! सुमने[2]! सुर-प्रिये !
अये जनेष्ठे[3]! वन-चंद्रिके ! सहे !
अये सुगंधे ! अयि चंद्र-वल्लिके[4] !
वसन्त ने स्वागत प्रेम से किया।

(३०)

"प्रभात-ओस-स्नपिता[5] कुमारिका
समीर-संचालित हेम-यूथिका
भ-चक्र-संपोषित स्वर्ण-जातिका
खिली हुई चित्र-अरण्य[6]-अंक में

(३१)

"न ज्ञात है कौन प्रसून प्रेय है;
न जानती सुन्दर पुष्प कौन है,
सहा[7], गवाक्षी[8] अथवा शिखण्डिनी[9]
कि मालती, माधविका कि मल्लिका।

---

[1]जो न सुना जा सके। [2]चमली। [3]वेला। [4]माधवी। [5]स्नान किये हुये। [6]फुलवाड़ी। [7]गुलाब। [8]वेला। [9]जूही (सफेद)।

(३२)

"कपोल-आरक्त गुलाब के लसे
पिशंग[1] सारी पहने वसन्तजा[2]
वरांगना है, यह शीतल-च्छदा
प्रसन्न सर्वांग-समुज्वला सिता।

(३३)

"प्रसून-भाषा हृदयानुमोदिनी
अबोध को भी अति बोध-गम्य है,
प्रसून-शोभा चढ़ कूट-शृंग पै
बिछा रही तारक-राशि व्योम में।

(३४)

"प्रसून-भाषा मृदु प्रेम की कथा,
प्रसून-माला युग प्रेम की कथा,
प्रसून-वर्षा सुर-प्रेम की कथा,
प्रसून-आभा प्रभु-प्रेम की कथा।

(३५)

"विशाल वल्ली-वन में, वनान्त में,
दिवा-उडु-स्तोम[3] प्रसून-गुच्छ में,
विहीन हो जो कि अपांग-पात से
मुखेन्दु तेरा त्रिशले! विलोक ले।

---

[1]पीली। [2]नेवारी। [3]दिन में उगे हुये नक्षत्रों का समूह।

(३६)

"विलोकने को तुमको, नृपालिके !
अजस्र जागी सब रात कर्णिका,
उषा-समा आनन की प्रभा लखे
हुयी सहर्षाश्रु सहा, न ओस है।

(३७)

"कि अप्सरा-लोचन-रंजनार्थ[1] ही
खिले हुये वारिज है तड़ाग में,
कि अप्सरा-लोचन-साम्य के लिये
उगे हुये हैं सर मे सरोज ही।

(३८)

"वसन्त में लेकर जन्म हर्ष से
वसन्तजा स-स्मित-आनना हुई,
कि मंजु आशा मुसकान स्वीय से
दिगंत को है भरती प्रमोद से।

(३९)

"प्रसून प्रत्येक-स्वकीय-श्वास का
प्रमोद लेता अथवा वनान्त मे,
मिलिन्द के हेतु बनी हुई कली
प्रसून होती, खिलती स-मोद है।"

---

[1]प्रसन्नतार्थ।

(४०)

सहेलियो के सग मे यहाँ-वहाँ
विलोकती थी त्रिशला प्रसन्न हो
चली न डोली निज गर्भ-भार से
प्रशान्त बैठी लखती सुदृश्य थी।

(४१)

समीप ही एक गुलाब-वृक्ष था,
प्रसून फूले जिसमे अनेक थे,
नृपालिका-स्वागत-हेतु प्रेम से
प्रसारता था अपनी सुगंध जो।

(४२)

समीर की एक तरंग ने कहा,
"समीप उत्फुल्ल गुलाब-वृक्ष है"
मिलिन्द के मंद निनाद ने कहा,
"यही रहो पास गुलाब-पाश[1] है।"

(४३)

न पखडी शाश्वत[2] है गुलाब की,
दशा न है केसर की सनातनी,
परन्तु तो भी इसकी सुगंध मे
चिरतनी अस्थिरता अवश्य है।

---

[1]गुलाब का जाल, झाड़ी। [2]सनातनी

(४४)

प्रसून आधा यह धूप में खिला
तथैव आधा वह छाँह में खुला;
खिला-खुला एक रहस्य में छिपा
मनुष्य का जीवन धूप-छाँह-सा।

(४५)

धरित्रि में, आदिम सृष्टि-काल में,
हुआ जभी था अवतार प्रेम का;
गुलाब ही कोमल तल्प[१] में, तभी
गया बिछाया सुख से निसर्ग से।

(४६)

समस्त सौन्दर्य्य-प्रपूर्ण वस्तुएँ
अदीर्घ-कालीन प्रभामयी यहाँ,
विलोक लो जीवन भी गुलाब का
अतीव है अल्प, महान स्वल्प है।

(४७)

"न सूर्य्य डूबै जबलौ दिगंत में
गुलाब को लो चुन, पुष्प जा रहे।"
जभी जया यों कह वृक्ष को बढ़ी,
निवारने यों त्रिशला लगी उसे:–

---

[१]झूला, पलंग।

(४८)

"न पुष्प तोड़ो, अव ! दूर ही रहो,
न वृन्त शोभा-हत सौख्य-शून्य हो,
प्रसून में सृष्टि-प्रदत्त प्राण है
महान हिंसा सखि! तोड़ना इसे ।

(४९)

"मिलिन्द देखो वह आ रहा, उसे
निराश होना सखि ! यों पड़े नहीं,
विलोक ले सुन्दरता प्रकाम सो
पिये सुखी हो मधु भी ललाम सो ।

(५०)

"कभी सु-जाती[1], अति गंध[2] में कहीं
कभी सुरूपा[3], मधु-गंध[4] में कहीं,
मिलिन्द लेता रस मोद-युक्त है,
निरी निराशा उसको न प्राप्त हो ।

(५१)

"मिलिन्द ही तो विष-पूर्ण पुष्प से
निकालता है मकरंद की सुधा;
सराहिये जीवन तुच्छ जन्तु का,
विलोकिये अध्यवसाय जीव का ।

---

[1]चमेली (पीली) । [2]बेला । [3]चमेली (सफेद) । [4]नेवारी ।

(५२)

"मिलिन्द का कार्य्य मनोज्ञ गान है,
मिलिन्द की शान्ति अनूप तान है,
मिलिन्द की है अनुभूति प्रेम ही,
मिलिन्द का जीवन प्रीति-रीति है।

(५३)

"प्रियंवदे ! तू तितली विलोक ले
अनेक-वर्णा सुषमा लिए हुये,
हुई समुत्पन्न लता-निकुंज में
सुमाध्य[1] के, कामुक[2] के, सुवृत्त[3] के।

(५४)

"पराश्रया को लख चारु-केसरा
प्रसून पै चंक्रम[4] है लगा रही,
न जानती है रवि-रश्मि-मुग्ध हो
नन-प्रभा पे पड़ती विकीर्ण-सी।

(५५)

"गुणोज्वला पाकर बाल-पुष्पिका
अनेक देती यह भाँवरें मुदा
यथा किसी उन्नत अद्रि-शृंग पै
सुमंद हों चंक्रम श्वेत मेघ के।

---

[1]माधवी। [2]मालती। [3]मल्लिका। [4]चक्कर।

(५६)

"पतंग-जाये, सखि ! पास में नही
स्व-बाल्य की हैं इतिवृत्त-लेखनी
विलोकते हो इसको, प्रियंवदे !
मदीय होते सब स्वप्न मूर्त हैं।

(५७)

"प्रसून हों या शिशु हो, प्रियंवदे !
पतंग हों, कोकिल हों, मिलिन्द हों,
उषा, शशी, पर्वत या वनान्त हो,
सभी यहाँ सुन्दर है, सुदृश्य है।

(५८)

"अनाथ है सुन्दरता न विश्व में
न नष्ट-प्राया, क्षण-भंगुरा कभी,
न एक प्रेमी-जन ही प्रशंसते,
वरंच सर्वेश्वर भी सराहते।

(५९)

"नतांगि ! सौन्दर्य्य-स्वरूप का यहाँ
सभी—परीक्षा, गुण, ध्येय—प्रेम है,
जिसे दिलाती बहिरंग-भावना
प्रपूर्णता आत्मिक अंतरंग की।

(६०)

"विलोक लो, लोक महान ओक[1] है
प्रसिद्ध जो सुन्दरताभिधान[2] से,
सुरम्य है अंबर से ढका हुआ,
सुचारु सारा जग अंग-अंग है।

(६१)

"विविक्त[3] संस्थान, वनान्त-प्रान्त में,
न व्यर्थ ही सुन्दरता भरी गयी;
विलोकने को यदि आंख दी गयी,
सु-दृश्य सर्वत्र बिनापवाद है।

(६२)

"सदैव सौन्दर्य्य विलोकना, तथा
सराहना एक पवित्र कार्य्य है;
महान् आवश्यक नीवपै यहाँ
वना हुआ सुन्दरता-निवेश है।

(६३)

"धरित्रि, होती तम-पूर्ण यामिनी
न तेज होता यदि सोम-अर्क में,
मिलिन्द जाता न प्रसून-पास, तो
न व्यक्त होता फल प्रेम-वृक्ष का।

---

[1]मकान। [2]सुंदरता के नाम से। [3]शून्य।

(६४)

"प्रभात देखा, दिन भी विलोक लो
प्रसून देखे, सुख-आल[1] देख लो,
लता निहारी, क्षुप भी निहार लो,
समस्त सौन्दर्य्य-प्रभाव-युक्त हैं।

(६५)

"चरा करे सारस-क्रौंच-कंक[2] भी
फिरा करे टिट्टीभ, नीर-काक भी,
घिरे रहें भेक, बलाक भी सदा
न सोहता हंस-बिना तडाग है।

(६६)

"नितान्त ही नीच, परन्तु रंच भी
करे न तू खेद कदापि, वापिके !
महान तेरा रसवान चित्त है
गुण[3]-ग्रहीता तुझ-सा न और है।

(६७)

"तडाग-शोभा बस एक हंस से,
कदापि होती न बलाक-पंक्ति से
विवेक होता बक में, मराल में,
विभाग होता जब क्षीर-नीर का।

---

[1]थाला। [2]कौआ। [3]रस्सी।

(६८)

"रजस्क[1] है केतकि ! पांडु वर्ण तू
महान ही कंटक-पंक्ति-अंकिता,
महा त्रपा-निर्गत[2] भृंग नित्य ही
तथापि सेवा करता अजस्र है।

(६९)

"प्रसिद्ध भू में शित रंग काक का,
लखा गया कोकिल श्यामवर्ण है,
वसन्त होता सजनी ! न आज जो,
विभेद होता युग जन्तु मे नही।

(७०)

"विहार-संलग्न रसाल-कुंज में
विहंग स्वच्छन्द-चरिष्णु[3] हैं सभी,
परन्तु क्यों पंजर-बद्ध कीर है ?
अनर्थकारी मधुरा-गिरा, अहो !

(७१)

"चरिष्णु है आयत-लोचना मृगी
कुरंग की भी प्रचरिष्णु दृष्टि है,
विभीत क्यों दंपति भागते, अहो !
दीयम साध्वी सखि ! तू न व्याधिनी।

---

[1]परागयुक्त। [2]निर्दय। [3]सचरण-शील।

(७२)

"अहो ! कृतारण्य[1]-पलाशि[2] ! धन्य तू
निलीन सर्वाङ्ग-परार्थ में सदा;
प्रसून, छाया, फल, मूल, दारु से
सहर्ष सेवा करता मनुष्य की।

(७३)

"प्रसून मे चंदन के मिलिन्द है,
शयान शाखा पर भी विहग है,
रसाल के ऊपर भी प्लवंग[3] है,
लसी प्रशाखा पर वृक्ष-शायिका[4]।

(७४)

"समुच्चता से फल-लाभ क्या हुआ ?
विनम्रता मे फल-प्राप्ति क्या हुई ?
पलाश-छाया-फल[5] क्या ? अशोक ! तू
न दे सका जो फल पान्थ-पुंज को।

(७५)

"कदंव मे, या अरविन्द में कभी,
कुमुद्वती मे, अलि ! कुंद-कुंज मे,
यथा-तथा, काल विता अभी, कभी
प्रहृष्ट होगी मृदु आम्र-मंजरी।

---

[1]फुलवाड़ी। [2]वृक्ष। [3]वानर। [4]गिलहरी। [5]लाभ।

(७६)

"अवश्य ही, किंशुक-पुष्प! देखले
समान है तू शुक-तुंड के, सखे!
परन्तु क्या मानव-चित्त-मोहिनी
गिरा समुच्चारण में समर्थ है?

(७७)

"चलो सखी! राज-निवेशको चलें,
खलें[1] न आराम-विहंग-वृन्द को;
मराल को, कोकिल, कीर को, तजें
मिलिन्द को स्वैर[2] विहार के लिए।

(७८)

"दिगंत-आकाश-धरित्रि में जहाँ-
जहाँ सखी! मैं निज दृष्टि डालती,
वहाँ-वहाँ भार अपार कांति का
भरा हुआ है मन मुग्ध हो रहा।

(७९)

"पिकी विषण्णा स्वर-भार-गर्भिता—
सहा लसी सौरभ-भार-गर्विता,
स्व-कान्ति के भार विनम्र व्योम है,
सुमंद है वायु सुगंध-भार से।

---

[1]दुःख दें। [2]स्वच्छन्द।

(८०)

"धरित्रि भी है भृत[1] भार से हुई,
लदी कि मैं ही उदरस्थ भार से ?
कि दिग्वधू भी शिथिला हुयी, सखी !
कि पीतिमा संयुत सूर्य्य-रश्मि है ?"

(८१)

सुविज्ञ जो थीं चतुरा सहेलियाँ
विलोक बोली त्रिशला ललाम से :-
"नृपाल्कि ! सो शुभ काल आ गया
रही प्रतीक्षा जिनकी धरित्रि को।

(८२)

"सु-पीत गो-धूम[2] वरेणुका[3] हुई
सु-पक्व सारे हरि-मथ[4] हो गये,
सु-धन्य रानी ! अब धान्यराज[5] है
सु-वृत्त बीजा[6] परिपाक-पूर्ण है।

(८३)

"अत. चले राज-निवेश को अभी
[7]विलंबना है मति की विडंबना,
निसर्ग उद्भिन्न लगा विलोकने
जिनेन्द्र का संभव-काल आ गया।

---

[1]भरी हुई। [2]गेहूँ। [3]अरहर। [4]चना। [5]जौ। [6]मटर। [7]देर करना।

(८४)

"त्रयोदशी है मधु-मास की शुभा,
पुनीत राज्ञी! यमणाख्य[1]योग है,
विधातृ[2] नक्षत्र प्रदीप्तमान है,
उदीयमाना शुभ सिंह-लग्न है।

(८५)

"धरे हुये रत्न अमूल्य गर्भ मे
कि रत्न-गर्भा अचला विराजती,
लिये हुये यो उदरस्थ पुत्र को
कि दर्शनीया त्रिशला महान तू।"

(८६)

निविष्ट होके नव मास गर्भ मे
न दुःख व्यापा उदरस्थ पुत्र को,
यथैव मुक्तागत नीर-बुंद में
विकार आता न कभी लखा गया।

(८७)

जिनेन्द्र-माता त्रिशला ललाम की
सदा अभग्ना त्रिवली बनी रही,
यथा उषा लेकर भानु गर्भ में
अभंगिमा-युक्त लसी प्रभात से।

---

[1]योग-विशेष। [2]रोहिणी।

(८८)

दिनान्त-आभा अति ही प्रसन्न थी,
दिगंत मे एक विभास[1] आ गया,
सुगंध के संयुत शीत वायु भी
सु-मंद हो भू-पर डोलने लगा।

(८९)

कपोत को धावित[2] चाष ने तजा,
न सर्प ने रावित[3] भेक को भजा,
विडाल पै दाँव किया न श्वान ने,
न सिंह ने ध्यान दिया कुरंग पै।

(९०)

तुरंत लौटी त्रिशला स्व-गेह मे
सनाथ[4] थी गीत-रता सहेलियाँ,
बजे उसी काल सु-वाद्य साथ मे
हुआ महाकाश-निनाद गेह मे।

(९१)

"अहो! महासिद्ध, अनाथ-नाथ ही,
पधारते है, सब सावधान हों;
धरित्रि मे केवल-ज्ञान-सूर्य्य के
प्रसिद्ध भावी उदयाद्रि आ रहे।

---

[1]उजाला। [2]दौड़ते हुये। [3]शब्द करते हुये। [4]साथ।

(९२)

"मनुष्य मिथ्या-मति-अंध-कूप मे
पड़े हुये जो, उनको उबारने
पधारते है निज-धर्म-हस्त से
प्रकाम देने अवलम्ब विश्व को।

(९३)

"पवित्र वाणी जिनकी अजस्र ही
अनूप देगी उपदेश विश्व को;
विनाशकारी बहु-भाँति कर्म के
जिनेन्द्र है भूतल में पधारते।

(९४)

"प्रसिद्ध जो धर्म-प्रवृत्ति-हेतु हैं,
अपार-संसार-समुद्र-सेतु है,
समुच्च जो ज्ञान-अनीक[1]-केतु है,
पधारते है महि मे जिनेन्द्र वे।

(९५)

"उठो, उठो, सत्वर प्राणियो! उठो,
प्रवृत्त हों आश्रित[2] जीव, धर्म मे;
हुआ सभी का भव[3] नष्ट विश्व में,
महान सौभाग्य उदीयमान है।

---

[1]सेना। [2]अधीन। [3]अंधकार।

[द्रुतविलंबित]

(९६)

मनुज को अति दुर्लभ सूनु है,
सुत कि जो मति-मान प्रसिद्ध हो,
श्रुति-[1]विहीन वृथा मति[2] जीव की
अवधि-ज्ञान[3]-विना श्रुति भी वृथा ।

---

[1]शास्त्र का ज्ञान । [2]इन्द्रिय-जन्य ज्ञान । [3]सुदूरवर्ती वाह्य-पदार्थों को जान सकनेवाला मर्य्यादित विशेष ज्ञान ।

आठवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

चतुर्दशी है मधु-मास की शुभा
प्रसन्नता-पूर्ण प्रभात-काल है,
नरेन्द्र-धाम स्थित सौरि-गेह मे
प्रसूत सद्धर्म-त्रिविष्टपेश[1] हैं।

(२)

महान-शारीरिक-कष्ट-सिंधु को
मुदा करेगा शिशु पार अन्त मे,
विभूति देगा वह विश्व को कि जो
विनाश देगी जन-कर्म-भावना।

(३)

अनत का यो अभिमान छोड के
विहाय उच्चास्पद स्वर्ग-लोक भी,
प्रसिद्ध सिद्धोचित धर्म-सपदा
समूढ[2] हो, भू पर आज आ गयी।

---

[1]भगवान महावीर। [2]एकत्रित।

(४)

मुनीश्वरो की महिमा अपार जो,
दिगीश्वरो की सुख-धाम संपदा,
सुरेश्वरों की सब सिद्धि मूर्त हो
विराजती है त्रिशला-निकेत मे ।

(५)

विहाय सो शाश्वत दीप्ति स्वर्ग की
समृद्धि जो मानव-कर्म-शोधिनी
स-देह अंगीकृत जीव-विक्रिया
विशुद्धि आयी वसुधा-विभासिनी ।

(६)

"अतः इले, ईश्वरि, वर्ण-मातृके[1] !
अनूप वाक्येश्वरि ! क्या न तू शुभे !
अभी धरेगी कुछ छन्द भेंट मे
त्रिलोक उत्कोच[2]-प्रदान-मग्न है ।

(७)

"अभी न आयी रवि-रश्मि व्योम मे
प्रभात-तारे नभ है न त्यागते,
उठी उषा केवल प्रार्थनार्थ है,
प्रकाश दे तू निज काव्य-ज्योति का ।

---

[1]सरस्वती के (सब) नाम। [2]भेंट।

(८)

"न आ सके अंबर मे दिनेश, या
न पा सके पार्श्व उषा प्रसूत[1] का
तुरन्त आ तू प्रतिभे ! स-प्रेम ही
सगीत गा विश्रुत वर्द्धमान का।"

(९)

पुनीत प्यारा ऋतुराज-काल था,
प्रभात का दिव्य प्रकाश छा गया,
नृपालिका की अँकवार[2] मे लसा
सुपर्व-समोहन दिव्य पुत्र था।

(१०)

निसर्ग ने ससृति-नाथ के लिए
खिला दिये पुष्प-समूह सर्वथा;
त्रिलोक-भाग्योदय-सूचनार्थ ही
दलो-फलो से लद वृक्ष भी गये।

(११)

तड़ाग मे उन्नत हो उरोज से
सरोज के वृन्द विराजमान थे,
सरोजिनी ने जिनको स-लज्ज हो
ढका दलो से निज नग्नता छिपा।

---

[1] उत्पन्न (पुत्र) का। [2] गोद।

(१२)

त्रिलोक-स्रष्टा निज नेत्र से नही
विलोक पाये महि की कुरूपता,
इसीलिए किंशुक[1] ने स्वभाव से
अहो! छिपा ली बन की स्थली सभी।

(१३)

विलोक संक्रान्ति-समेत रोदसी,
स-चेत, सर्वेश्वर ने स्व-दूतिका—
प्रशान्ति भेजी द्रुत अंतरिक्ष से,
तुरन्त दी शान्ति धरित्रि-व्योम को।

(१४)

प्रशान्ति सर्वेश-नियोग[2]-तत्परा,
चली उषा के घन बेधती हुई,
स-वेग आयी महि मे विवर्तिनी
प्रशान्त संसार हुआ प्रभाव से।

(१५)

न युद्ध था और न शंख-नाद था,
समस्त हिंसा मिट विश्व से गयी;
पड़े हुए आयुध शक्ति-हीन थे,
विहीन ह्रेषा[3]-रव थी पताकिनी[4]।

---

[1]पलाश। [2]आज्ञा। [3]घोड़े का शब्द। [4]सेना।

(१६)

विषाण भी सम्यक् शब्द-हीन थे,
तुरंग भी स्यंदन से विहीन थे,
नृपाल सारे रण-रिक्त पीन थे,
समस्त सर्वेश्वर-भक्ति-लीन थे।

(१७)

प्रशान्ति-साम्राज्य-प्रसार भूमि में
जभी किया केवल-ज्ञान-भूप ने,
प्रशान्त-व्योम-स्थित-ऋक्ष-वृन्द थे,
नितान्त थी शान्ति-मयी विभावरी।

(१८)

सभी समुद्वेल्लित[1] नीर-वीचियाँ,
छुयी गयी वेग-विहीन वायु से,
प्रशान्ति से सभृत[2] चंद्रिका हुई
तथा असंभ्रान्त समुद्र हो गया।

(१९)

महान आश्चर्य-समेत व्योम में
बनी रही निश्चल तारकावली,
हिली नहीं स्वीय प्रकाश-अक्ष से,
गयी नहीं पश्चिम दिग्विभाग में।

---

[1]उच्छल। [2]भरी हुई।

(२०)

प्रभात के यद्यपि सूर्य्य-देव ने
उन्हें भगाया बहुधा स्व-रश्मि से,
परन्तु तारे गति-हीन ही रहे,
हटे न आज्ञा तक देव-देव की।

(२१)

प्रकाश ने यद्यपि अंधकार को
भगा दिया नष्ट हुई विभावरी,
परन्तु पूषा[1] उदयाद्रि पै रुका
न व्योम-गामी रथ पै सवार था।

(२२)

विकास के सम्मुख कोटि-भानु के
प्रकाश था तुच्छ सहस्र-भानु का,
महान लज्जा-वश हो इसीलिए
छिपा लिया आनन विश्व-चक्षु[2] ने।

(२३)

सुवृत्त[3] हो तस्कर-वृत्ति त्याग के
प्रशान्त बैठे घर चौर-वृन्द थे,
उठे सभी स्वागत के लिए तभी
प्रसन्न हो मानव-कर्म-चौर के।

---

[1]सूर्य्य। [2]सूर्य्य। [3]अच्छे आचरण वाले।

(२४)

नृपाल-कारागृह मे पड़े हुये
स्व-मुक्ति आशा-पथ जोहते हुये,
समस्त वंदी करते प्रणाम थे
प्रसन्न हो विश्व-विमुक्ति-हेतु को।

(२५)

उसी घड़ी दिव्य-सगीत स्वर्ग से,
पुरा सुना जो न गया मनुष्य से,
लगा सभी की श्रुति[1] को सुहावना
सहस्र-वीणा-मय अतरिक्ष मे।

(२६)

सभी नरो ने मन-मुग्ध हो सुना,
सरीसृपो ने विप त्याग के सुना,
समीर ने भी प्रतिशव्द से उसे
किया अनुप्राणित भाँति-भाँति से।

(२७)

निसर्ग था विस्मित हृष्ट[2] सर्वत,
धरित्रि रोमाचित हो उठी सभी,
कृतार्थ ऐसे सव लोक हो गये
कि धन्य थे स्थावर-जगमादि भी।

---

[1]कान। [2]आनदित।

(२८)

समस्त भू में, भुव में न स्वर्ग में,
विविक्ति[1] थी अंतिम दिव्य गान की,
त्रिलोक एकत्रित हृष्ट-चित्त हो
असंख्य-कर्णान्वित हो गया तभी।

(२९)

पुनश्च विद्याधर किन्नरादि भी
सुदिव्य-संगीत-निमग्न-चित्त हो,
स्वकीय तेजोमय रम्य-राग से
लगे भगाने तम जीव-लोक का।

(३०)

स-हर्ष रंभा, अतिमुग्ध मेनका,
नृपाल-धामांगन-मध्य उर्वशी,
प्रहर्षिता नृत्य-कला-विशारदा
स-वाद्य-गीतान्वित नाचने लगी।

(३१)

"समस्त संगीत अभूत-पूर्व है,
अभावि है," उन्मद[2] इन्द्र ने कहा,
समस्त तारे सुन नीर-बुन्द-से
समा गये सूर्य्य-समुद्र में तभी।

---

[1]शून्यता। [2]उन्मत्त।

(३२)

न मेदिनी चंचलता निभा सकी,
यथार्थ-नाम्नी अचला बनी रही,
पयोधि की चंचल वीचियाँ सभी
नितान्त ही स्थैर्य्य-युता लखा पड़ी।

(३३)

दिनेश, राकेश, समस्त तारको !
स्वकीय संगीत हमें सुनाइए।
स-नृत्य हो वासर-यामिनी सदा
परिक्रमा हो करते जिनेन्द्र की।

(३४)

समस्त ताल-स्वर के घनत्व से
करो गुणीभूत विविक्त[1] व्योम को,
तुम्हीं तपस्या-रत अंतरिक्ष में
सदा सपर्य्या रचते जिनेन्द्र की।

(३५)

संगीत ऐसा, चिरकाल से जिसे
रही सुनाती-सुनती वसुंधरा,
पुनश्च लौटा शुभ–काल-लब्धि से,
स-हर्ष देगा युग स्वर्ण का हमें।

---

[1]शून्य।

(३६)

समस्त-मिथ्या-मत नष्ट-भ्रष्ट हो
विलीन होंगे इस जीव-लोक मे,
समाज मे जो अघ-ओघ व्याप्त हैं,
न वे रहेंगे क्षण-एक के लिए।

(३७)

प्ररोह होगा फिर सत्य-न्याय का,
तथा दया का अवतार विश्व मे,
पुन अहिंसा वर-वर्णिनी शुभा
सुदृष्ट होगी नव-इन्द्र-चाप-सी।

(३८)

क्षमा-समायुक्त पयोद-पुज पै
चढी स्व-पादोज्झित[1] धर्म-सपदा,
खुले अभी है यह देव-लोक के
निवेश के द्वार-कपाट भी नही।

(३९)

परन्तु बोला अति उच्च शब्द से
मनुष्य-सौभाग्य, "अभी नही, नहो,
रुको, रुको, रंच विलब है अभी
अबोध है, बालक वर्द्धमान है।

[1]चरणो से उछाली हुई।

(४०)

"इन्हे सभी कर्म-विपाक नाशना,
परीषहो[1] के दृढ बध तोडना,
तथा परीक्षा खल कामदेव की
अवश्य देना अवशेष है अभी।"

(४१)

भविष्य-वाणी इस भाँति की हुई
प्रसुप्त प्राणी सुन जागने लगे।
अनूप-सव्येश्वरि[2] बोलती हुई
तुरत अतर्हित मेरु मे हुई।

(४२)

परन्तु डोली वसुधा स-भीत हो,
विभीत हो दिग्गज काँपने लगे,
पुन. हुआ सो प्रतिशब्द व्योम मे
"अभी न नि श्रेयस है, मुक्ति है।

(४३)

"अभी हिलेगी धरणी प्रकप से,
अभी फटेगा नभ घोर घात से,
अभी महा-सिद्ध-शिलाधिरूढ हो
जिनेन्द्र देगे नव धर्म-सपदा।

---

[1]साधना-कालमें आनेवाले प्रत्यूह। [2]सरस्वती।

(४४)

"अघाख्य[1] दर्वी[2] अहि की प्रशान्ति भी
अवश्य होना अवशिष्ट है अभी,
अपूर्ण आशीविष[2] काल-कूट से
प्रपूर्ण देता भय जो त्रिलोक को।"

(४५)

भविष्य-वाणी सुन अतरिक्ष की
समस्त मिथ्या-मत भागने लगे,
अतथ्य ज्योतिर्विद मूक हो गये,
असत्य-भाषी फलितज्ञ मौन थे।

(४६)

सदैव हिसा-प्रिय वाम-मार्ग के
गये प्रचारी सब भाग भूमि से,
कु-ग्रन्थ ले ले निज वाम-कुक्षि मे
किसी गुफा मे गिरि की समा गये।

(४७)

स्वतत्र जो मांत्रिक[3] दुष्ट धर्म के
रचा रहे थे वध जीव-जन्तु का
सभी अघी वे तज हेति[4] हस्त से
छिपे कही भैरव-चक्र त्याग के।

---

[1]अघ नाम का। [2]सर्प। [3]मन्त्रज्ञ। [4]हथियार।

(४८)

निशेश के सम्मुख अंधकार ज्यों,
दिनेश के सम्मुख भूत-प्रेत ज्यों,
जिनेश के सम्मुख वाम-कर्म[1] त्यों
'चला गया शीघ्र पलायमान हो।

(४९)

नरेश के प्रांगण[2]-मध्य प्रात से
मृदंग-वीणा-ढफ-मोरचंग ले
संगीत में गायक-गायिका लसे
स्व-नृत्त में नर्तक-नर्तकी पगे।

(५०)

नृपाल - आनंद - समुद्र - वीचियाँ
तुरन्त फैली सब ग्राम-ग्राम में,
सभी प्रजा हो मुदिता इतस्ततः
जिनेन्द्र-जन्मोत्सव थी मना रही।

(५१)

हिरण्य, हीरा, हय, हस्ति, हेम ले
नृपाल थे याचक-वृन्द तोषते;
स्व-सेवको को वहु दान-मान दे
अनाथ को भी करते स-नाथ थे।

---

[1] वाम-मार्ग के कर्म। [2] आँगन।

(५२)

ध्वजा, पताका, स्रग, तोरणादि से
सजा हुआ मंदिर भूमि-पालका
प्रतीत था गायन-नृत्य-वाद्य से
धरित्रि में संस्थित नाक[1]-लोक-सा।

(५३)

महा-समारोह-मयी सभा लगी
जुड़े कलाकार नृपाल-राज्य के,
दिखा दिखा वे अपनी विशेषता
सभी मनोरंजन मे निमग्न थे।

[द्रुतबिलंबित]

(५४)

यह समुत्सव आनन्द-उत्स[2] को
प्रवल था करता इस भाँति से
जिस प्रकार सु-मूल्य सुवर्ण का
शुचि-सुगंध बढ़ा सकती सदा।

[वंशस्थ]

(५५)

उसी घड़ी नर्तक एक आ वहाँ
दिखा चला कौशल स्वीय नृत्य का,
जिनेन्द्र-जन्मोत्सव-दृश्य बाँध के
सभी किये नाटक पूर्व-जन्म के।

---

[1]स्वर्ग। [2]झरना।

(५६)

प्रतीत हो नर्तक कल्प-वृक्ष-सा
विखेरता था वह दृश्य-पुष्प सो
युगाध्रियाँ[1] नर्तित रग-भूमि मे
विमान को भी करती विमान[2] थी ।

(५७)

पुनश्च पुष्पांजलि को बिखेरता
हुआ मुदा ताडव-नृत्य-लीन सो,
अपूर्व था नर्तन पूर्व-रंग का
तथैव थी अद्भुत नाटच-प्रक्रिया ।

(५८)

स्व-नेत्र-विक्षेप-समेत नर्तकी
सहायिका थी नट-नृत्य-पूर्ति मे,
स-वेग सचालित हस्त-पाद से
पुन. पुन. नर्तन-दत्त-चित्त थी ।

(५९)

कभी दिखाती वहु-रूप-विज्ञता,
कभी लगाती वहुताल योपिता,
कभी घुमाती घन घाँघरा, तथा
कभी मुदा भूपण[3] ही वजा रही ।

---

[1]दोनों जंघाएँ । [2]मान-हीन । [3]घुंघरू ।

(६०)

वसुधरा के, बहु अंतरिक्ष के
सुदृश्य नाना विधि से दिखा रही,
नटी-नटों के सँग नाचती हुई
लसी सुरो के सँग देवियाँ वहाँ।

(६१)

जिनेन्द्र-जन्मोत्सव-योजना महा,
न पार पाती जिसका सरस्वती,
अनूप से वर्णन देव-देव के
धरित्रि मे आगम का अशक्य है।

(६२)

सभी सभा उत्सुक हो उठी, तभी
जिनेन्द्र-संदर्शन-लालसा जगी,
नृपाल-आज्ञा-वश-वर्ति भृत्य भी
गया महाराज्ञि-निकेत-को मुदा।

(६३)

वहाँ विलोका शिशु धाय-वृन्द से
स-प्रेम-संपोषित खेलता हुआ
अनेक क्रीडा-कृत[1] वस्तुएँ वहाँ
रमा रही थी नवजात बाल को।

---

[1]की।

(६४)

प्रसन्न था आनन श्री जिनेन्द्र का,
सुवर्ण-आभूषण हस्त-पाद में,
किये हुये धारण दिव्य वस्त्र वे
अजस्र दोलायित[1] हो रहे सुखी।

(६५)

प्रसन्न-आस्या त्रिशला समीप ही
सराहती थी निज भाग्य-संपदा,
निदेश पाके नृप-भृत्य का तभी
चली मुदा ले शिशु स्वीय अंक में।

(६६)

गयी वहाँ पै अति ही प्रसन्न सो,
सुखांक में बालक खेलता हुआ,
जिसे सभा उत्थित हो विलोकने
लगी मुदा नेत्र-निमेष-हीन हो।

(६७)

अपूर्व था बालक गौर रंग का,
कपोल दोनों ऋतुराज-पुष्प[2]-से,
लसे खिलौने कर में सुवर्ण के
अजस्र-संचालित पाद-युग्म थे।

---

[1]झुलाया जाता हुआ। [2]गुलाब।

(६८)

मनोरमा आनन की प्रसन्नता
अवर्णनीया छबि-युक्त सोहती,
अनूप सद्यागत[1] स्वर्ग की प्रभा
प्रतीत प्रत्यंग विराजती हुई।

(६९)

नृपाल के नेत्र-समान नेत्र थे
लसी, अहो! भौंह-समान भौंह भी,
परन्तु शोभा हनु[2]-ओष्ठ-भाल की
विराजती थी त्रिशला-मुखाब्ज-सी।

(७०)

जिनेन्द्र के आनन-चन्द्र मे लसी
मनोरमा सु-स्मित-चंद्रिका-प्रभा,
प्रसन्न हो सर्व-सभा-समुद्र का
प्रवृद्ध था मानस-तोष-नीर-सा।

(७१)

विलोक बोला द्रुत एक साधु, जो
महा वयोवृद्ध तथा सु-विज्ञ था,
"नृपाल! लोकोत्तर[3] पुत्र आपका
अपूर्व होगा बल-कीर्ति-धर्म में।

---

[1]अभी आये हुये। [2]ठुड्ढी। [3]अलौकिक।

(७२)

"हुआ स्वयं-संस्कृत भूमि-भाग्य से,
समस्त-संस्कार-प्रसाधना वृथा।
शरीर की उत्तम लक्षणावली
बता रही बालक सिद्ध-रूप है।

(७३)

"स्वयं सिखेगा यह बोलना, प्रभो!
स्वयं पढ़ेगा, गुरु खोजना वृथा,
स्वयं रखेगा निजनाम विश्व में,
स्वयं रचेगा नव धर्म-योजना।

(७४)

"विलोकिये, बालक के मुखाब्ज में
मनोरमा कोमल भावना भरी,
रहस्य-संयुक्त प्रसन्नता तथा
प्रशंसनीया मुसकान-मंजुता।

(७५)

"समस्त स्वर्लोक-निविष्ट देवता
महीप! रक्षा शिशु की किया करें,
प्रभूत-सौभाग्य-प्रपूर्ण[1] भाल पै
अजस्र वर्षा वरदान की रहे।

---

[1]अपने ही संस्कारों से सिद्ध।

(७६)

"मनोरमा स्वर्कलिका[1] सु-कोमला
प्रभो ! गिरी है त्रिशला-सुखांक में,
कि सद्य फूले, अभिताभ हो फले,
मनुष्यता को रस दे स्व-धर्म का।

(७७)

"विभूति दैवी चल स्वर्ग-लोक से
यहाँ पधारी दृग-सौख्य-दायिनी,
विलोकिये, स-स्मित आस्य पुत्र का
कि संपदा स्वर्गिक मूर्तिमान है।

(७८)

"चिरायु हो, हे शिशु ! तू स्वदेश का
प्रसिद्ध हो भूप, कुटुम्बवान हो,
प्रसन्न तेरे वदनारविन्द पै
झरे मुदा देव-प्रसाद[2] सर्वदा।

(७९)

"कुमार ! तू जीवन-द्वार पै खड़ा
अतीव छोटे कर क्यों हिला रहा !
भविष्य के या कि कपाट खोलता,
कि स्वर्ग को इंगित[3] से बता रहा।

---

[1]स्वर्ग की पुष्प-कली। [2]प्रसन्नता। [3]इशारा।

(८०)

"कुमार! तू चंचल नेत्र से मुदा
विलोकता क्या, यह तो वता मुझे,
अलेख्य है जो इतिहास विश्व का
रहस्य या जो अवगाह्य[1] भी नही।

(८१)

"कुमार! तू आनन मे अँगुष्ठ दे
कि सोचता है वह प्रार्थना, जिसे
तुझे पढाया कल था सुरेन्द्र ने
धरित्रि मे आकर भूल-सा गया।

(८२)

"त्वदीय आशा, त्रिशले! सुभाग्य, या
कुटुम्ब-आनंद, स्वराज्य-सपदा,
त्रिलोक का प्रम, प्रभाव धर्म का
कुमार के जीवन-मध्य मूर्त है।

(८३)

"नृपाल! जानो, शिशु गेह-दीप है,
कि छद्म-वेषी[2] प्रभु-मूर्ति ही यही,
दिनेश के अंशु सुवर्ण केश मे,
निशेश की रश्मि मुखारविन्द मे।"

---

[1]थाहने योग्य। [2]कपट-वेषी।

(८४)

पवित्र वाणी सुन वृद्ध देव की
विनम्र माता शिशु-देह पै झुकी,
कही लगे दृष्टि न पुत्र को, अतः
निवेश को ले त्रिशला चली गयी।

(८५)

निकेत के प्रांगण मे अजस्र ही
समस्त सेवा नव-जात बाल की
स-प्रेम लाती रहती सहेलियाँ,
अहर्निशा पालन मे प्रसक्त[1] थी।

(८६)

प्रमोद-दाता सित-पक्ष-चंद्र-सा
शनैः शनै. वर्द्धित पुत्र-आस्य को
विलोकते ही अति गाढ प्रेम से
चकोर-से लोचन मातृ के बने।

(८७)

शनैः शनै· बालक वर्द्धमान के
मुखाब्ज से निःसृत भारती[2] हुई
विशुद्ध वाणी सुन भूमिपाल भी
महान आश्चर्य्य-समेत खो गये।

---

[1]संलग्न। [2]वाणी।

(८८)

शनैः शनैः वर्द्धित[1] वर्द्धमान के
पड़े धरा पै पद-युग्म धाम में,
विलोक आभूषण रत्न से जड़े
स-तर्क तारे स्थिर व्योम मे हुये ।

(८९)

शनैः शनैः विश्व-पदार्थ-ज्ञान भी
अदोष-सम्यक्त्व[2]-समेत आ गया,
शनैः शनैः राजकुमार की तभी
स्वभावतः सात्त्विक बुद्धि भी बढी ।

(९०)

शनैः शनैः सर्व-कला-अभिज्ञता
कुमार को थी हृदयंगमा हुई,
समस्त - विद्या - जिन-धर्म - धारणा
शनैः शनैः ज्ञात हुई स्वयं उन्हें ।

(९१)

न काल जाते लगता बिलंब है,
शशी गया तो दिन-नाथ आ गये,
तुरन्त वीते वहु-पक्ष-मास यों
कि देव को अष्टम वर्ष भी लगा ।

---

[1]बढ़ते हुये । [2]सम्यक् भाव ।

(९२)

कुमार - स्वाभाविक - लक्षणावली
विमोहती दर्शक-वृन्द-चित्त थी,
प्रतप्त-हेमाभ[1] शरीर देख के
हुआ सुराधीश सहस्र-नेत्र का।

(९३)

चतुर्दिशा दीपक के पतंग ज्यों,
समंततः पंकज के मिलिन्द ज्यों,
तथैव चारों दिशि वर्द्धमान के
घिरे हुये थे तन-गुप्त[2] देवता।

(९४)

प्रसन्नता, सुन्दरता, सुभाग्यता,
नृपाल के आँगन मे प्रफुल्ल थीं,
विमुग्धता, चंचलता, मनस्विता,
कुमार-सेवा करती अजस्र थी।

(९५)

"मदीय आशा, मम भाग्य-संपदा,
मदीय तू प्रीति, मदीय मुग्धता[3],"
इन्ही स्वरों मे त्रिशला अहर्निशा
कुमार को थी सहसा पुकारती।

---

[1]तपे हुये सुवर्ण की शोभा वाला। [2]कपट-वेषी। [3]प्रसन्नता।

(९६)

नरेश-गेह-स्थित ग्रीष्म-काल का
अदीर्घ होता दिन शीतकाल-सा,
प्रसन्नता आयत[1] शीत-काल की
बना रही थी निशि ग्रीष्म-काल-सी ।

[द्रुतविलंबित]

(९७)

हृदय की प्रति-मूर्ति वहिर्गता
भवन की सुषमा, छवि ईश की,
तनय हो अवतीर्ण[2] हुई, अहो !
शुभ-विदेह-धराधिप-धाम में ।

---

[1]दीर्घ । [2]उतरी ।

नवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

शनैः शनैः अष्टम वर्ष भी गया,
कुमार पौगंड[1]-दशाधिरूढ थे,
प्रभूत-शारीरिक-कान्ति-युक्त वे
पवित्र वाणी-मन-कर्म से बने।

(२)

विभूषणों से, व्रत-शील-आदि से,
सभी गुणो से परिपूर्ण शोभते,
समस्त विज्ञान, सभी कला उन्हें
अवाप्त हस्तामलकत्व[2] को हुईं।

(३)

सभी सखा-संग कुमार एकदा
चले, गये बाहर खेलते हुये;
निदाघ[3] का उष्ण प्रभात-काल था,
अरण्य था सुन्दर राजता हुआ।

---

[1]पाँच से दश वर्षकी अवस्था। [2]हाथ में आँवलेके समान।
[3]ग्रीष्म-ऋतु।

(४)

सदावगाहक्षत[1] वारि-राशि मे
प्रचंड थे भानु सहस्र-भानु के,
नितान्त दुष्प्रेक्ष्य[2] प्रतप्त व्योम था
महान-कोपाकुल-भूप-आस्य-सा ।

(५)

कही घने भू-रुह नीप[3] क तले
मयूर बैठे दिन काटते लसे,
कहीं किसी शाद्वल[4] में विराजते
कुरंग थे संग कुरंगिनी लिये ।

(६)

अरण्य के माहिप पंक जान के
स्वकीय छायाश्रय ढूँढने लगे,
अलक्त गुंजा लख रक्त-बुन्द-सी
स-भ्रान्ति थे वायस चंचु डालते ।

(७)

करेणु[5] खाता फल सल्लकी मुदा,
वरेणुका[6] थी उसको खिला रही,
समीप ही वारण गर्जते हुये
बना रहे कानन शब्द-युक्त थे ।

---

[1]सदा नहाने के कारण उच्छल । [2]कठिनता से देखा जाने वाला । [3]तमाल । [4]हरी-भरी भूमि । [5]हाथी का बच्चा । [6]हथिनी ।

(८)

प्रचण्ड-मार्तण्ड-प्रताप-पुंज से
विभीत हो हंस सरोज के तले
सन्ताप ले शीत मृणाल[1] चंचु में
बिता रहे थे दिन ग्रीष्म-काल के ।

(९)

कहीं-कहीं हंस तड़ाग-तीर पै,
महान गंभीर जहाँ कबन्ध[2] था,
वहीं प्रसन्ना ध्वनि थे सुना रहे
विलासिनी-नूपुर-तुल्य मंजुला ।

(१०)

कहीं दुखी-चित्त-प्रतप्त थी धरा,
कहीं मही थी खल-वाक्य-दाहिनी,
परन्तु धात्रीरुह[3]-पाद-मूल को
अपांसुला-सी तजती न छाँह थी ।

(११)

अरण्य गंभीर अशब्द से कहीं,
कहीं महाक्रोश[4]-युता वनस्थली,
कहीं महा घर्म-प्रतप्त मेदिनी,
कहीं धरा शीतल नीप-छाँह में ।

---

[1]कमल-नाल । [2]जल । [3]वृक्ष । [4]शब्द, हल्ला ।

(१२)

कही लसी पान्थ-वधू-समान ही
स-दीनता पुष्करिणी दिगन्त मे,
अ-घास[1] श्वेतांवर थी मही कही,
अगावली पत्र-विना दिगंबरा।

(१३)

जिनेन्द्र बोले, "सहचारियो! लखो,
असह्य कैसी गुरु ग्रीष्म-ताप है,
अरण्य मानो वृष-भानु[2]-ताप से
बना तवा-सा अति ही प्रतप्त है।

(१४)

"घटी प्रतप्ता सह-चारिणी बनी,
स्फुलिंग-सेना सह-धर्मिणी लसी,
समस्त-धात्री-विजगीषु[3]-वृत्ति से
प्रचंड ग्रीष्मर्तु बढ़ी भयावनी।

(१५)

"प्ररूढ़ हो कीर्ति-प्रताप-पक्ष पै
पतंग[4] का सार्थक नाम हो गया,
प्रकाश का आदिम स्रोत पूर्व से
त्विषा-महा-द्वीप अनंत में बढ़ा।

---

[1]विना घास की। [2]वृष-राशि के सूर्य्य। [3]जीतने की इच्छा वाली।
[4]सूर्य्य -(पतग)

(१६)

"प्रकाश का केन्द्र, प्रदीप्ति का धुरा,
त्रिलोक-चूड़ामणि वार-नाथ[1] है,
प्रचंड होता जब वन्य भूमि मे
दवाग्नि-साम्राज्य प्रसारता यही।

(१७)

"सखे ! विलोको वह दूर सामने
प्रचंड दावा[2] जलता अरण्य मे,
चलो, वहाँ के खग-जीव-जन्तु को
सहायता दे, यदि हो सके, अभी।

(१८)

"प्रचंड दावानल की शिखा यथा
प्रलव है धूम नगाधिराज-सा,
अवश्य कोई वन-बीच दुःसहा
महान आपत्ति उपस्थिता हुई।

(१९)

"मनुष्य, पक्षी, कृमि, जीव, जन्तु की
सदैव रक्षा करना स्व-धर्म है,
अत. चलो कानन मे विलोक लें
कि कौन-सी व्याधि प्रवर्द्धमान है।"

---

[1]सूर्य्य। [2]वनाग्नि।

(२०)

जिनेन्द्र-गंभीर-गिरा सुनी जभी
चले सभी शीघ्र धँसे अरण्य में,
जहाँ बृहत्काय कृपीट[1]-सा खड़ा
सरीसृपाधीश समुच्च शैल-सा ।

(२१)

सहस्र-भोगी[2] द्वि-सहस्र नेत्र का
दृगश्रवा[3]-जृम्भित[4]-आस्य देख के
समस्त साथी भयभीत हो उठे,
तुरन्त भागे वन मे इतस्ततः ।

(२२)

मनुष्य को जीवन-भीति स महा
कठोर है मृत्यु-विभीषिका सदा,
विभीत ऐसा द्रुत भागता, कि है
क्षण-प्रभा आकर पाँव चूमती ।

(२३)

निबद्ध होता पद है विभीत का
विराव होता अवरुद्ध कठ मे,
विभीषिका-संवृत[5] नेत्र-पुत्तली
विलोक पाती जल को न भूमि को ।

---

[1]धूआँ । [2]सहस्र फनवाला । [3]दृग ही है कान जिसके, सर्प । [4]खुला हुआ । [5]घिरी हुई, वन्द ।

(२४)

स-त्रास साथी सब भागने लगे
पुकारते, "देव, हमे बचाइए,"
त्रिलोक में एक विभीति ने पुरा
न की समुत्पन्न सुपर्व-कल्पना ?

(२५)

परन्तु साथी अधिकाश मौन थे,
अवाक पीतानन शून्य-संज्ञ-से,
कि मूक पाषाण-मयी विमूर्ति थे
कि मूर्त थे प्रस्तर[1] प्राण-युक्त वे ।

(२६)

बता रहा था भय कंप ओष्ठ का,
न शुष्क जिह्वा उनकी चली कभी,
सुपर्व भेजें जब भीष्म[2] दृश्य तो
सखे ! मनुष्योचित कर्म भीति है ।

(२७)

जिनेन्द्र बोले तब, "साथियो, सुनो !
विभीत होना तुमको न चाहिए,
न जानते क्या तुमसे सभीत हो
समुच्च-भोगी अहि-तर्क-युक्त है ।

---

[1]पत्थर । [2]भीषण ।

(२८)

"न आत्म-विश्वास तजो कभी, सखे !
समुच्च-शोभी शिर आपका रहे,
जिसे न आँधी बल से झुका सके,
जिसे न पानी जव[1] से बहा सके ।

(२९)

"मनुष्य जो साहसवान वे कभी
विभीत हों दु:ख-विपत्ति से नही,
विभीषिका का बढ़ सामना करे,
डरें न आपत्ति, व्यथा, विषाद से ।

(३०)

"मनुष्य जो पूर्ण अभीत-चित्त हो
सदैव आगे वढ़ता अदम्य है,
कदापि शंका करता न साहसी
कि नष्ट होगी न विपत्ति की घटा ।

(३१)

"अत. न भागो, भयभीत साथियो !
करो सभी संचय स्वीय शक्ति का,
स-भीत पाता गति नारकी सदा,
अभीति स्वर्ग-प्रद है मनुष्य को ।

---

[1] वेग ।

(३२)

"जहाँ अकस्मात विपत्ति के लिए
सखे! प्रतीकार अवश्य कार्य[1] हो,
वहाँ अविश्वास अधर्म-मात्र है,
सुविज्ञता भी अति घोर मूर्खता।

(३३)

"विभीत होना न सतर्कता, सखे!
धनी स-कार्पण्य न मित-व्ययी कभी,
अत. तुम्हे कायरता अयोग्य है,
अयुक्त प्रत्यूह[2] विलोक भागना।

(३४)

"सहायता भी मिलती सुरेन्द्र से
उसे कि जो साहस-पूर्ण वीर हो,
धरित्रि मे अध्यवसाय के विना
न जीव कोई गति उच्च पा सका।

(३५)

"विभीति के कंटक मे, विलोक लो,
सुरक्षिता कीर्ति-गुलाव की कली।
विधेय[3] हो जो चुनना उसे, वही
सुमित्र! आवे मम संग शीघ्र ही।"

---

[1]करने योग्य। [2]विघ्न। [3]करने योग्य।

(३६)

जिनेन्द्र ने यों कह मित्र-वर्ग से
स-दर्प बाँधी कटि, सामने बढ़े,
जहाँ खड़ा था भुजगेश[1] शैल-सा
अजिह्म जिह्वा द्वि-सहस्र खोल के।

(३७)

अलक्त गुँजा[2]-सम नेत्र क्रोध में,
कराल नासा-पुट धूम[3] छोड़ते,
स्फुलिंग-माला मुख से निकालता
खड़ा हुआ काल-कराल सर्प था।

(३८)

स-वेणु जैसे अहि-तुंड गारुडी[4]
करे वशीभूत भुजंग-राज को
किया उसी भाँति जिनेन्द्र ने उसे
नितान्त काकोल[5]-विहीन दीन भी।

(३९)

कहा, "चला जा इस वप्र-छिद्र में,
पुनः न आना अब तू अरण्य मे,
समूह जो स्थावर-जंगमादि के
शरण्य मेरे सब आज से हुये।"

---

[1]सर्पराज। [2]घुँघची। [3]धुआँ। [4]सर्प-पकड़ने वाला। [5]विष।

(४०)

उसी घड़ी से जग मे जिनेन्द्र की
सुकीर्ति फैली जन-चित्त-मोहिनी,
न नाम से केवल वर्द्धमान के,
सभी महावीर पुकारने लगे।

(४१)

विलोक प्रज्ञा-बल-कीर्ति-धैर्य्य को,
सराह श्रद्धा-मय ज्ञान-ध्यान को,
निहार अव्यर्थ-प्रभाव प्रेम को,
जिनेन्द्र की संस्तुति की त्रिलोक ने :—

(४२)

"दुखी हुये सप्रति[1] जीव-लोक को
महान आनंद-प्रदान-हेतु ही
प्रभो ! हुये हो अवतीर्ण विश्व में,
महा-सुधा-दीधिति-बाल-चद्र से।

(४३)

"अनन्य-स्वामी तुम हो त्रिलोक के
न भूप के ही, चरमेन्द्र के, प्रभो !
अत. प्रणेता[2] बन धर्म-तीर्थ के
प्रतीत साकार विरचि आप हो।

---

[1]इस समय। [2]नेता।

(४४)

"प्रभो ! सदा रक्षक भव्य जीव के,
विमुक्ति-नारी-पति विश्व-ख्यात हो,
प्रसिद्ध होगे उदयाद्रि सत्य ही
त्रिलोक मे केवल-ज्ञान-सूर्य्य के।

(४५)

"सुविज्ञ ! मिथ्यामत-अंधकूप मे
पड़े हुये कातर जीव-लोक को
सदा सहारा निज धर्म-हस्त का
दिया करोगे भव-मुक्ति-हेतु ही।

(४६)

"सुधी ! तुम्हारी सुन दिव्य भारती[1]
विमोह को त्याग, पवित्र भाव से
तिलांजली दे निज दुष्ट कर्म को
विमुक्त होगे जन धर्म-मार्ग में।

(४७)

"प्रभो ! तुम्ही धर्म-प्रवृत्ति-हेतु हो,
अपार-संसार समुद्र-सेतु हो,
प्रसिद्ध तीर्थंकर नाम से सदा
हुये समुत्पन्न विपन्न-त्राण[2] हो।

---

[1]वाणी। [2]दुःखी के रक्षक।

(४८)

"विभो ! हमारा शतशः प्रणाम है,
समक्ष प्राणी नत-शीर्ष आपके,
सदैव आज्ञा-वश-वर्ति जीव को
विमुक्ति का आस्पद[1] दो, दयानिधे !

(४९)

"मनुष्य जो इच्छुक सिद्धि-शान्ति के
सदा लहेंगे वह सौख्य मुक्ति के,
विमोह-आशीविष[2] से गृहीत को
सुधा-समा है भवदीय भारती।

(५०)

"वहित्र रत्न-त्रय से लदा हुआ,
मयूख जो आत्म-प्रकाश का सदा,
प्रदान-कर्ता गुरु-ज्ञान-भाव का,
प्रसिद्ध होगा भवदीय रूप यों।

(५१)

"हुये समुत्पन्न नृ-लोक में, प्रभो !
परार्थ-सिध्यर्थ-समर्थ-भाव से।
विमोक्ष के साधन जीव-लोक के,
सदा समाराधन स्वर्ग्य-लाभ के।

---

[1]स्थान। [2]सर्प।

(५२)

"तुम्हीं विजेता मद-मोह-मान के,
अचूक नेता तुम आत्म-ज्ञान के,
विमोक्ष-दारा-पति, देव ! सर्वथा,
प्रदान कल्याण करो त्रिलोक को ।

(५३)

"स्वभाव से आप पवित्र-देह हैं,
स-देह हैं किन्तु सदा विदेह हैं,
समस्त जीवों पर आपकी, प्रभो !
अहेतुकी[1] है करुणा कृपा-निधे !

(५४)

"विभो ! प्रशंसा करते न आपकी
कि प्राप्त हो भूरि त्रिलोक-संपदा,
परन्तु दातव्य परेश ! आपसे
विमोक्ष-आयोजन-प्रक्रिया[2] हमें ।"

(५५)

त्रिलोक यों संस्तुति में निलीन था,
गुणावली थे कहते जभी सभी,
कुमार थे स्वीय-निकेत-गर्भ मे
विचार में मग्न महान सिद्धि के ।

---

[1]बिना कारण की । [2]साधना ।

(५६)

समुच्च आगार नितांत शांत था,
समस्त वातायन थे खुले हुये,
समीर की चचल वीचियाँ उन्हे
प्रसन्नता से करती विभोर[1] थी ।

(५७)

चला गया शैशव सर्वकाल को
प्रवृत्त कौमार्य्य हुआ जिनेन्द्र का,
परन्तु आती लख यौवनाग्नि को
विचार मे था जरठत्व[2] आ गया ।

(५८)

प्रकाशिता यद्यपि ज्ञान-रश्मियाँ
जिनेन्द्र-शीर्षस्थ प्रभूत हो गयो,
परन्तु कादविनि[3] भाव-मेघ की
क्षण-प्रभा[4] ले हृदयाब्धि में उठी ।

(५९)

न ध्यान मे संस्तुति थी त्रिलोक की,
विचार में थी न परार्थ-मुक्ति ही,
जिनेन्द्र यों भाव-प्रवाह में वहे,
पतंग[5] झंझानिल-संग मे यथा ।

---

[1]मुग्ध । [2]वृद्धत्व । [3]मेघमाला । [4]विजली । [5]छोटा जन्तु या पतग ।

(६०)

"सदैव जो स्वार्थ-परार्थ-हीन है,
तथैव शंका-भय से विहीन है,
समस्त स्वर्लक्षण[1] का कलाप जो
चला गया शैशव हाय ! हाथ से ।

(६१)

"कभी यहाँ सुन्दर वृक्ष-वल्लरी
सभी लता-गुल्म, मनोहरा धरा,
तथैव सारे यह दृश्य लोक के,
किये हुये धारण स्वर्ग-रूप थे ।

(६२)

"नदी-बनों की अति रम्य सद्यता
बनी हुई थी धन स्वप्न-लोक का,
परन्तु हूँ आज विलोकता जहाँ
न देखता हूँ वह दृश्य पूर्व के ।

(६३)

"सुरंग-शोभी वह इन्द्रचाप जो
कही छिपा और कही उगा हुआ,
महा मनोज्ञा बन-बाग की सहा[2]
कही खुली और कहीं छिपी हुई ।

---

[1]स्वर्ग के लक्षण। [2]गुलाब की टट्टी।

(६४)

"विलोकता पूर्ण शशांक व्योम को
अनभ्र[1] जो, नीलिम जो, प्रशांत जो,
प्रकाशता दीप्त दिनेश भूमि को
प्रफुल्ल जो, सुन्दर जो, प्रसन्न जो।

(६५)

"परन्तु भू से, नभ से, दिगन्त से,
अहार्य से, कानन से, चतुष्क[2] से,
प्रसून कोटि सुषमा शनैः शनैः
चली गयी-सी प्रतिभात हो रही।

(६६)

"स-मोद गाते पिक आम्र-वृक्ष पै
मयूर आनंदित नृत्य-लीन हैं,
प्रमोद सर्वत्र विराजमान है,
परन्तु मेरा मन दुःख-पूर्ण है।

(६७)

"प्रपात होना जल का महीध्र[3] से,
कदापि मेरे दृग में न रुद्ध है,
वितुंड[4] का नाद हुआ वनान्त में
धरित्रि आमोद-प्रपूर्ण हो रही।

---

[1] बिना बादल का। [2] मैदान। [3] पर्वत। [4] हाथी।

(६८)

"चतुर्दिशा दृश्य वसंत-काल के
धरित्रि मे एक प्रमोद बो रहे;
परन्तु कैसा अवसाद[1] चित्त में
उठा, मुझे जो सब भाँति खो रहा ?

(६९)

"समीप बैठे खग शैल-वृक्ष से
अलापते स्वीय विराव मोद में,
प्रसन्न है वायु-विधूत[2] पत्र भी,
स-हास है व्योम सहानुभूति मे।

(७०)

"प्रमोद ऐसा अनुभूत हो रहा
मुझे, कि मेरा मन हृष्ट-पुष्ट है,
विहंग-प्रेमोत्सव डाल-डाल पै
प्लवग-सौख्योद्भव पात-पात पै।

(७१)

"अवश्य ही वार अभाग्य-पूर्ण है,
स-दुःख होता यदि हूँ वसन्त मे,
विलोकता हूँ जब दूर खेत म
अजा चराते चरवाह खेलते।

---

[1]दुःख। [2]सचालित।

(७२)

"परन्तु केदार[1] तथैव वृक्ष भी
यही कहानी कहते स-दुख हैं,
कि सौख्य-कारी दिन वे चले गये,
मिली हमें सु-स्मृति[2], स्वप्न खो गया !

(७३)

"विचारता हूँ यदि मैं प्रशान्त हो,
न जन्म ही व्यक्त, न व्यक्त मृत्यु ही,
नितान्त अज्ञेय, न भूति-[3]गम्य है
मनुष्यके जीवन का रहस्य भी।

(७४)

"अतीत में जीवन-तारिका-समा
मदीय आत्मा जब स्वर्ग से चली
नितान्त थी सु-स्मृति में न नग्न[4] ही,
स्व-कर्म की पुञ्जल ज्योति संग थी।

(७५)

"मनुष्य-आत्मा उस दिव्यलोक से
जभी पधारी महि में स्व-कर्म से,
चली सु-छाया उस ऊर्ध्व लोक की
तभी समाच्छादित[5] हो शिशुत्व पै।

---

[1]खेत। [2]स्मरण-शक्ति। [3]अनुभव-गम्य। [4]बिना, रिक्त। [5]ढकी हुई।

(७६)

"धरित्रि-कारागृह रूँधता उसे[1]
शनैः शनैः आवृत जीव को बना,
परन्तु प्राणी लखता प्रकाश जो
चला त्विषाधिष्ठित[2] दिव्य-लोक से ।

(७७)

"प्रकाश सो शैशव मे शनै. शनै
सु-दूर होता शिशु वर्द्धमान[3] से
कि अत में हो अति दूर सत्य ही
निमग्न होता खलु[4] वार-ज्योति[5] मे ।

(७८)

"धरित्रि भी ले सुख-पुष्प क्रोड मे
उसे लुभाती करती अचेत है,
निसर्ग खेला[6]-हित नव्य वस्तु दे
उसे भुलाता सब स्वप्न पूर्व के ।

(७९)

"मनुष्य होता फलत. कुमार सो
पुरा-अभिज्ञात-प्रभाव-हीन हो,
न राज-प्रासाद महेन्द्र-लोक का
पुनश्च आता स्मृति मे कदापि है ।"

---

[1]आत्मा को । [2]प्रकाश से परिपूर्ण । [3]बढ़ते हुये । [4]निश्चय ही । [5]दिन का प्रकाश । [6]खेल ।

(८०)

पड़े-पड़े सोच रहे प्रशान्त यों
निमग्न थे राज-कुमार भाव में
चतुर्दिशा संसृति देखते हुये
उठे दिवा[1]-शैशव-स्वप्न देखते।

(८१)

उठे तभी वे शयनाक से, चले
इतस्ततः मन्दिर में शनैः शनैः;
समीप वातायन के खड़े-खड़े
विलोकने प्रांगण गेह का लगे।

(८२)

जहाँ कि दासी स्थित स्वीय पुत्र ले
निवृत्त-कर्तव्य रमा[2] रही उसे,
कुमार था केवल पाँच वर्ष का
प्रसन्न बैठा जननी-समीप ही।

(८३)

न चेटकी ने निरखा[3] जिनेन्द्र को
स्व-बाल-खेला लखती स-मोद थी,
कुमार को क्रीडन-मग्न देख के
जिनेन्द्र यों भाव-निमग्न हो गये।

---

[1]दिन (का)। [2]खेला रही। [3]ध्यान में देखा।

(८४)

विलोकिये, बाल स्वकीय खेल में
निलीन है, पूर्ण-प्रसन्न-चित्त है,
कपोल है रक्तिम मातृ-प्रीति से
लसा दृगों मे बहु पितृ-प्रेम है।

(८५)

मनुष्यता-जीवन - स्वप्न - भागिनी[1]
विनिर्मिता नव्य कुमार-हस्त से,
समीप ही क्रीडन-वस्तुएं पड़ीं
विनोद की, उत्सव की, विवाह की।

(८६)

मनुष्य की-सी व्यवसाय-बंधना[2]
मनुष्य की-सी रण-रग-साधना
रमा रही है शिशु-चित्त सर्वथा,
विलोकिये, शैशव खेलता हुआ।

(८७)

नवीन शैलूषक[3] एक खेल में
नही बिताता बहु काल, किन्तु सो
रमा हुआ जीवन रंग-मंच पै
अनेकशः खेल कुमार खेलता।

---

[1]संबंधिनी। [2]कार्य्य-कलाप। [3]नट।

(८८)

असूक्ष्म-आत्मा शिशु ! सूक्ष्म-देह तू
अवश्य है रक्षक पूर्व-दाय[1] का।
स-नेत्र तू, अंध समाज में, अत.
विलोकता आत्म-पयोधि-वीचियाँ।

(८९)

महान गंभीर पयोधि विश्व का
अनन्त आत्मा जिसमे भरी हुई,
विलोकता तू शिशु व्यक्त नेत्र से
अतीव अव्यक्त परेश-भावना।

(९०)

सदैव तेरे अमरत्व की प्रभा
प्रसारती हाथ त्वदीय शीर्ष पै,
अजस्र स्वर्गीय स्वतंत्रता, सखे ?
अवाप्त है दिव्य स्वभाव से तुझे।

(९१)

परन्तु क्यों तू इतने प्रयत्न से
बुला रहा सत्वर प्रौढ वर्ष वे
विषाद-दायी युग[2]-भार-तुल्य जो
सदा बनाते पशु-सा मनुष्य को ?

---

[1]उत्तराधिकार। [2]जुआँ, जो बैलके कंधे पर रखा जाता है।

(९२)

अवश्य ही पार्थिव भार, हे सखे !
तुझे खलेगा व्यवहार विश्व का,
महान गंभीर अगाध सिंधु-सा
तुषार-सा जो गुरु है, असह्य है।

(९३)

अहो ! हमारी इस देह में, सखे !
अनन्त जीवन्त[1] पदार्थ है छिपा,
निसर्ग को जो स्मृत है, परन्तु जो
यहाँ पधारा कब, ज्ञात है नहीं।

(९४)

सुदूर है यद्यपि देव-लोक से,
निसर्ग के तू उदरस्थ आगया,
परन्तु क्या तू शिशु ! जानता उसे
यहाँ उतारा जिस सिंधु ने तुझे ?

(९५)

अनन्त है सिधु अनादि तोय का,
अगण्य वीची उठती अमाप है,
असंख्य हैं, बालक-बालिका[2] जहाँ
अजस्र क्रीडा-रत जो विनोद में।

---

[1]स-जीव। [2]स्त्री-पुरुष।

(९६)

अतः विहंगो ! चहको, उठो, उड़ो,
वसन्त का सौख्यद रम्य काल है,
कुरंग कूदें, उछले पतंग भी,
कपोत कूजे, कल-कंठ कूक दे।

(९७)

व्यतीत[1] का चिंतन सर्वथा वृथा,
चला गया शैशव, किन्तु क्या हुआ ?
रहा-सहा जो उसको सम्हालना
सदैव कर्तव्य मनुष्य-मात्र का।

(९८)

अवश्य ही जीवन-ध्येय में यहाँ
अखंड विश्वास प्रशंसनीय जो,
विलोकना सम्यक-ज्ञान-दृष्टि से
मनुष्य की प्राथमिका प्रवृत्ति हो।

(९९)

अगो, खगो ! यों समझो न चित्त में
कि है हमारी कम प्रीति-भावना।
विलोकता हूं हृदयानुभूति तो
पुरा यथा थे तुम प्रेय हो तथा।

---

[1]अतीतकाल।

(१००)

पड़ा-पड़ा मैं इस राज-धाम में
नहीं तुम्हारा वह प्यार पा सका;
प्रकाश के अंचल से शनैः शनैः
समीर-द्वारा झरता अजस्र जो।

(१०१)

दिनान्त है, पूषण[1] अस्तमान है,
लसी प्रतीची-स्थित मेघ-मंडली,
दिखा-दिखा जो अपनी असारता
मनुष्यता को अमरत्व दे रही।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

जिस प्रकार यती निज श्वास को
कर निरुद्ध त्रिलोक विलोकता;
शमित[2] सांध्य-समीर किये हुये
तपन[3] देख रहा महि-व्योम है।

[1]सूर्य्य। [2]शान्त। [3]सूर्य्य।

दसवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

समीप ही क्षत्रिय-कुड-ग्राम के
प्रवाहिता थी ऋजु-वालिका नदी,
कभी-कभी वीर कुमार जा वहाँ
प्रसन्न नैसर्गिक दृश्य देखते ।

(२)

हिमाद्रि से उद्‌गमिता तरगिणी
प्रवाहिता मद-जवा[1] मनोहरा,
प्रभात सध्या ध्वनि नीर की जिसे
वना रही कर्ण-सुखावहा महा ।

(३)

कभी-कभी प्रावृट् मे अधीर हो
स-वेग स्रोती[2] वहती अमंद थी,
परन्तु होती अति शान्त अत मे
प्रशान्त रत्नाकर मे प्रविष्ट हो ।

---

[1]मद वेग वाली । [2]नदी ।

(४)

पयस्विनी आश्वनि मास में कभी
मुदा बजाती परिवादिनी[1] यहीं
समीर भी ले ध्वनि एक गीत की
तटस्थ शाली-पथ में बिखेरतीं ।

(५)

महानदी की कल-नादिनी गिरा
सु-कोमला प्रस्तर-पुंज पेलती[2]
प्रसन्न हो हार-सिंगार-गंध से
स्व-अंक में उत्पल थी सकेलती ।

(६)

कुमार प्रायः उसके समीप जा
विलोकते तुंग-तरंग-भंगिमा,
प्रतीत होती मुख-नेत्र-बिम्ब से
सरोज-शोभा जल में प्रफुल्लिता ।

(७)

मनुष्य-साधारण-वक्र से कहीं
महाधिका थी सुपमा मुखाब्ज की,
तटस्थ-शाखी-खग देख देव को
अशंक्य साक्षी इस तत्त्व के हुये ।

---

[1]वीणा । [2]धक्का देती ।

(८)

विधातृ[1] ! दे तू तज राग नीर को
विहाय कालिन्दि-निकुंज आ यहाँ,
बुला रही है ऋजु-बालिका तथा
विहार के वप्र[2] पुकारते तुझे !

(९)

पहाड़ियों में चल के हिमाद्रि की
विहाय नेपाल-अगावली बड़ी,
विहार से आ करती विहार है,
पयस्विनी मानस-सत्र[3]-नि सुता।

(१०)

दिनान्त में मंजुल ग्रीष्म-काल के
महा मनोज्ञ यह आपगा[4]-तटी
प्रसारती चिन्तन-शील जीव के
विचार का एक प्रवाह चित्त में।

(११)

अलस्त अस्तगत सूर्य्य की प्रभा
प्रसूतिनी[5] हो अनुराग-भाव की
बना रही रंजित साध्य-तारिका
पयस्विनी में प्रतिबिंबिता बनी।

---

[1]सरस्वती। [2]मैदान। [3]सर, तड़ाग। [4]नदी। [5]जननी।

(१२)

कही-कही मौक्तिक-सी उडु-प्रभा
खुले दृगो से अवलोकती हुई
बनी वशीभूत-विराग-भावना
अहो ! नदी-अंक-निमज्जिता हुई।

(१३)

कि काटती कानन के तमिस्र को,
कि पाटती स्वर्णिम रश्मि तीर मे,
तरग-मालाऽऽकुलिता तरगिणी
वढा रही क्षत्रिय-कुड की प्रभा।

(१४)

बही चली जा ऋजु-बालिके ! प्रिये !
बढ़ी चली जा सहसा पयोधिगे !
प्रवाह तेरा कमनीय कान्त है,
समीप तेरा बहुधा प्रशान्त है।

(१५)

अये ! तुम्हारे तट पै दिनान्त मे
प्रिये ! न चिता-विहगी उड़ी कभी,
न घूक[1] आये उपकूल[2] रात्रि मे,
न तीर आया भय प्रात-काल में।

---

[1]उल्लू। [2]पास।

(१६)

समीप तेरे सरि ! ग्रीष्म मे कभी
प्रसून से शोभित भूमि-अंक मे,
विचारते जीवन के रहस्य को
शयान[1] होते सुख से कुमार है ।

(१७)

निदाघ मे तापित तीव्र अंशु से
करी[2] यहाँ आ अवगाहते सदा,
अतीव संक्षुब्ध प्रसारती प्रभा
पयस्विनी - तुंग - तरंग - भगिमा ।

(१८)

कभी-कभी पूर्ण-प्रकाश चद्र का
निशा-समुल्लास[3] विखेरता हुआ,
कुमार के चितन-शील चित्त मे
प्रमोद प्यारा भरता अतीव था ।

(१९)

अभी पुरी-मदिर-वाद्य प्रात मे
निनादिता थे करते सभी दिशा,
अवश्य आवर्तिनि[4]-अक-वीचि में
अभूरि आघात प्रचारते रहे ।

---

[1]लेटे हुये । [2]हाथी । [3]आनद । [4]नदी ।

(२०)

कभी-कभी ले चरवाह वंशिका
प्रसन्न गाते सरि के समीप थे,
कुमार के भी मन मे अनेकश.
विशुद्धता-संयुत राग[1] फैलते ।

(२१)

अहर्निशा एक-रसा प्रवाहिता,
महान-पूता, बहु-नीर-संयुता,
अजस्र प्रालेय-गिरीन्द्र-उद्भवा[2]
प्रमोददा थी सरिता कुमार को ।

(२२)

नदी बनी काल-प्रवाह-तुल्य ही
अहर्निशा थी बहती जलोत्तमा ;
अहार्य्य-कन्या अति शक्ति-शालिनी
बही पथों का अवरोध नाशती ।

(२३)

पुरों-वनो मे सुषमा-प्रवर्धिनी,
सदा लता-कुंज-प्रभा-प्रकाशिनी,
तरंग-मालाऽऽकुलिता पयस्विनी[3]
कुमार को थी ऋजुवालिका प्रिया ।

---

[1]अनुराग, गीत । [2]हिमालयसे निकली हुई । [3]नदी ।

(२४)

नितान्त एकान्त-निवास-संस्पृही[1]
कुमार को थी सरि मोद-दायिनी,
कभी-कभी आ उसके समीप वे
विचारते जीवन का रहस्य थे।

(२५)

दिनेश की वारिद की सुता नदी,
हिमाद्रि की कानन की प्रिया नदी,
अखंड प्रालेय-विनि सृता नदी
वही महावात-प्रकंपिता नदी।

(२६)

कुमार निःसंग[2] नदी समीप में
सदा-महा-चिंतन-शील भाव से
विरक्त-निःश्वास-समेत देखते
तटस्थ-पुष्पावलि घर्म-मूर्च्छिता।

(२७)

महान गभीर तथैव निर्मला,
स-शक्त है किन्तु अमन्यु-भाविनी,
प्रवाह तेरा सरि! श्रीकुमारको
बना समुत्तेजक, किन्तु सात्त्विकी।

---

[1]इच्छुक। [2]अकेले।

(२८)

समीप तेरे निज पक्ष-पात[1] से
विहंग होते अनि मोद-युक्त हैं,
प्रभात-संध्या स्वर-युक्त गीत से
बना रहे है पुलिन[2]-द्वयी शुभा।

(२९)

विलोक यों जीवन के प्रवाह को
कुमार ने शान्त स्वभाव से तभी,
स्व-दृष्टि डाली सरि तीर बैठ के
मनुष्य के जीवन के प्रवाह पै।

(३०)

कुमार को षोडश वर्ष हो गये,
विलोकते सर्व प्रपञ्च विश्व के,
मनुष्य के जीवन की प्रतिक्रिया
हुई तदा मानस[3]-मध्य बिंबिता।

(३१)

पुनश्च सोचा, इस जीव-लोक में
मदीय तो आगम अंत-बार का;
मनुष्य के जीवन को उबारना
अवश्य है अंतिम ध्येय मामकी[4]।

---

[1]पंखो के निपात से। [2]तटी। [3]चित्त। [4]मेरा।

(३२)

न है तिरस्कृत्य न त्याज्य भी मुझे
मनुष्य-रक्षा अघ[1] से, अधर्म से,
विलोक लूँ जीवन का रहस्य मैं,
विचार लूँ संप्रति भेद विश्व का।

(३३)

मनुष्य विद्यार्चन,[2] अर्थ-अर्जना[3]
शरीर को शाश्वत जान के करे,
परन्तु, त्यागे न कदापि भावना
स्व-धर्म की, जीवन अल्प मान के।

(३४)

न साधु[4] है साहस प्राण त्यागना,
वरंच जीना अति श्रेष्ठ कार्य है,
समाप्ति होती यदि मृत्यु के परे,
अवाप्त होता फिर जन्म ही नहीं।

(३५)

न ज्ञात है जीवन की समाप्ति में
सुभाग्य है गुप्त, कुभाग्य लुप्त या,
अत. सदा आयु-प्रसार-मध्य ही
स्वतंत्रता से शुभ कर्म कीजिए।

---

[1]पाप। [2]विद्या की पूजा। [3]कमाना। [4]अच्छा, सुन्दर।

(३६)

विरंचि ने जीवन की कथा लिखी
ललाट में ही जब जन्म-काल से,
न प्राणियों से परिचिन्तनीय है
कि कौन-सी आयु-प्रवाह की दिशा।

(३७)

बचा जिसे यत्न सका न मृत्यु से,
सु-कर्म से जीवन रक्षणीय है,
सुलभ्य है उत्तम भाग्य-साधना,
अलभ्य है मानुष-जन्म-प्राप्ति भी।

(३८)

चतुर्दिशा चंचल-वायु-तुल्य ही
मनुष्य का जीवन स्थैर्य्य-हीन है,
अवश्य ही आह-कराह जीव की
समीर-संचार[1]-समान स्वल्प है।

(३९)

सदैव है जीवन प्रेय सर्वथा
धरित्रि मे जीवित प्राणि-मात्र को,
विभीत हो कीट-पतंग भी सभी
न त्यागना जीवन चाहते कभी।

---

[1]झोंका-प्रवाह।

(४०)

दया महा उत्तम वस्तु विश्व में,
दया सभी पै करना स्व-धर्म है,
दया बनाती जग सह्य[1] जीव को,
दया दिखाना अति उच्च कर्म है।

(४१)

न अन्न-वस्त्रादिक ही समेटना
विधेय है कार्य्य मनुष्य-मात्र का,
रची गयी जीवन-हेतु वस्तुएँ
न किन्तु जीना[2] इनके लिए कभी।

(४२)

मनुष्य तू मर्त्य, अतः विचार ले
अवश्य तेरी कल ही समाप्ति है,
परन्तु धर्माचरणार्थ सोच तू
अवश्य तेरी शत-वर्ष आयु है।

(४३)

धरित्रि है बुद्‌बुद्, और जीवका
अदीर्घ है जीवन, दीर्घ काल है,
तरंग मे लेखन-तुल्य व्यर्थ है
अदूर-दर्शी नर की क्रिया सभी।

---

[1]सहनीय। [2]जीवन।

(४४)

स्व-कर्म ही किन्तु न मास-वर्ष है,
विचार ही किन्तु न श्वास-मात्र है,
विभावना ही न कि मूर्त देह है,
मनुष्य का जीवन माप-दंड है।

(४५)

विचार में जो सब भाँति लीन हो,
निगूढ हो संतत स्वानुभूति में,
सदैव जो उत्तम-कार्य्य-लग्न हो,
प्रशस्त जीना उसका यथार्थ है।

(४६)

मनुष्य, जो है पहचानते मुझे
वही प्रशंसा करते स-प्रेम है,
समस्त-संसार-हितार्थ मैं सदा
स्व-जन्म लेता करता सुकर्म हूँ।

(४७)

स-दुःख-पृथ्वी-तल के लिए, तथा
प्रसन्न-आकाश-हितार्थ मैं सदा
स्व-जन्म लेता कर धर्म-पालना
प्रकाश देता, हर अंधकार को।

(४८)

मनुष्य का जीवन-कार्य्य तत्त्वतः
विनम्रता का अति दीर्घ पाठ है,
यथार्थ देखो, भव की समाप्ति से
न न्यून है जीवन की विभीषिका'।

(४९)

सभी यहाँ जीवन-मार्ग-पान्थ है
चले सभी है निज जन्म-प्रात से,
स्व-मृत्यु-सध्या तक यों चले चलो,
न दूर-यात्रा-श्रम हो, मुझे भजो।

(५०)

न भक्ति हो तो इस जीव-लोक मे
मनुष्य को संभव एक दुख है,
महान है जीवन की विपत्ति भी
तथैव देहान्त महाभिशाप है।

(५१)

न विश्व मे वीर मनुष्य की कमी,
न न्यूनता है जन साधु सौम्य की,
अत सभी के प्रति प्रेम-भाव हो,
सभी करेगे नर प्रेम आप से।

'भय।

(५२)

न जीवनाशा[१] इतनी तमिस्र है
मनुष्य जैसी उसको बखानते;
प्रभात-कालीन पयोद-वर्षणा
कभी-कभी वासर स्वच्छ ला सकी।

(५३)

यथैव वर्षा, फिर ताप धर्म की,
पुनश्च झोंके सुखदा समीर के,
तथा वनों में मृदुता-प्रसार भी
तदा अगों में सहनीय उष्णता।

(५४)

तथैव आसक्ति[२] प्रतीति-रीति भी
पुनश्च रागान्वित स्वप्न-भावना।
विलोक के जीवन-क्षेत्र-शुष्कता
बनी महा सौख्यद सद्यतामयी[३]।

(५५)

सु-काल-सा जीवन! तू विरम्य है,
प्रभात तेरा कितना सुरम्य है;
अरण्य-केदार-नदी-अहार्य[४] के
समीप ही यौवन रम्यमाण है।

---

[१]जीने की इच्छा। [२]सलग्नता। [३]ताज़गी। [४]पर्वत।

(५६)

समस्त एकत्रित वस्तुएँ हुयी
मनुष्य के जीवन-केन्द्र मे, अहो !
न रोदसी-अंवर-भूमि में, लखो
समीर को, दीधिति को, पलाश को।

(५७)

अधूलि है जीवन-मार्ग क्लिष्ट है,
खिंचा अहो ! मै किस ओर जा रहा,
हितार्थ मेरे अवशेष क्या रहा ?
न रंच भी; सत्रह वर्ष हो गये।

(५८)

अहो ! द्विधा जागृति है मनुष्य की
सुषुप्ति की संस्कृति अन्य वस्तु है,
नितान्त ही जीवन और मृत्यु की
न स्वप्न-सीमा परिलेखनीय है।

(५९)

मनुष्य जो आयुष उत्तरार्द्ध, सो
सदा वनाता सुविलम्ब-गामिनी,
परन्तु पूर्वार्द्ध प्रमोद-युक्त जो
अजस्र देता द्रुत-गामिता उसे—

(६०)

धरित्रि में जीवन की क्षण-प्रभा
दबा रही है नर शाश्वती-समा[१]
व्यतीत होती यदि भद्र-भाविनी
सु-काव्य है आयुष भव्य जीवका।

(६१)

धरित्रि में आकर रो उठा जभी
मनुष्य हैं जीवित जानते उसे;
तथैव ले दो हिचकी चला गया,
समस्त प्राणी मृत मानते उसे।

(६२)

निसर्ग से जीवन प्राप्त जो हुआ
अदीर्घ है, अस्थिर है, अपूर्ण है,
व्यतीत जो उत्तम भाँति से हुआ
सु-दीर्घ है, शाश्वत है, प्रपूर्ण है।

(६३)

निसर्ग ने जीवन को उधार में
दिया हमें है वन उत्तमर्ण[२] हो,
किया नही निश्चित किन्तु दैव ने
कि है चुकाना किस काल मे उसे।

---

[१]दीर्घ-कालतक। [२]साहूकार।

(६४)

कलंक से जीवन हीन जो हुआ
सधे विनिर्विघ्न[1] समस्त कर्म जो,
मनुष्य का सार्थक जन्म हो गया,
अशोच्य है देह-निपात भी उसे।

(६५)

समस्त भू को पहचानना तथा
समस्त को सादर दृष्टि देखना।
समस्त-प्राणी-प्रति प्रेम मानना,
प्रशस्त है जीवन-ध्येय जीव का।

(६६)

शरीर हूँ मै यह तथ्य[2] है नहीं,
शरीर मे हूँ, यह नित्य सत्य है,
शरीर-सपात न मृत्यु जीव की,
अशोच्य तो शोच्य न प्रज्ञ जीव से।

(६७)

न धर्म से आवृत कार्य्य हो जहाँ,
न कर्म से सवृत धर्म-भाव हो,
जहाँ न हो भक्ति, न देव-अर्चना
वहाँ सभी जीवन मृत्यु-तुल्य है।

---

[1]कुशलता से। [2]सत्य।

(६८)

धरित्रि में कर्म-निबद्ध जीव का
अवश्य जीना, मरना अवश्य है,
जिये भली भाँति इसीलिये कि जो
मरे भली भाँति, न सत्य अन्यथा।

(६९)

न छीनिए जीवन प्राणवान का,
न दे सकोगे नव प्राण जीव को,
धरित्रि है जीवन के लिए सदा
यहाँ सभी के अधिकार तुल्य हैं।

(७०)

मनुष्य यात्री निज-कर्म-मार्ग के
कुटी-समा भू कुछ काल के लिए,
दिनान्त आया कि रुके कहीं-यही,
निशान्त आया कि गये यही कहीं।

(७१)

यहाँ पधारे तब आप नग्न थे,
वहाँ सिधारे तब मोह-मग्न थे,
अपाय[1] से जीवन में न मुक्त थे,
उपाय क्या सार्थक मृत्यु के परे?

---

[1]विघ्न।

(७२)

सुखी भले ही करि पै सवार हो,
दुखी भले पाँव घसीटते चले,
परन्तु जाते सब है वही जहाँ
विभेद है भूपति मे न रंक मे ।

(७३)

अ-सार है जीवन जीव-लोक में,
स-सार देखी युग वस्तुएं यहाँ,
स्व-दुःख मे साहस-पूर्ण भावना,
दया दिखाना पर दुःखमे सदा ।

(७४)

कहाँ गया कोकिल वीत वर्ष का,
कहाँ गयी शुष्क प्रसून-गंध भी,
कहाँ गया स्वाति-पयोद-वृन्द, या
कहाँ गया जीवन-प्रेम-पात्र भी ।

(७५)

धरित्रि मेला, मिलते जहाँ सभी,
धरित्रि खेला सब खेलते जहाँ,
रुका न कोई जग-पण्य[1]-भूमि मे
चले गये बालक खेलते हुये ।

---

[1]बाज़ार ।

(७६)

बने महाद्वीप भविष्य-भूत के
सुमध्य में जीवन अन्तरीप-सा,
सम्हाल ले जो पथ वर्तमान का
वही अलक्ष्येन्द्र[1]-समान ख्यात हो।

(७७)

लिये चले जीवन-भार शीस पै,
झुके, रुके जो न कदापि मार्ग मे,
वही सुधी संबल[2]-युक्त अंत मे
प्रसिद्ध साफल्य-सखा हुआ यहाँ।

(७८)

हुआ करे लोमश-सा प्रवृद्ध या
बना करे रावण-सा सुविक्रमी,
परन्तु हो जीवन साधु राम-सा
स्वकीय-कल्याण-विधान-सुस्पृही।

(७९)

प्रकाश ही हो अथवा तमिस्र हो,
सुभाग्य ही हो अथवा कुस्वप्न हो,
प्रकंप-संयुक्त कि स्थैर्य्य-युक्त हो,
परन्तु हो जीवन जीविताश्रयी[3]।

---

[1]सिकदर बादशाह। [2]मार्ग का पाथेय। [3]जीवित मनुष्य को आश्रय लेनेवाला।

(८०)

न प्राण लेना अति क्लिष्ट कार्य है,
पिपीलिका भी डसती करीन्द्र को,
परन्तु देना वश मे न अन्य के
नरेन्द्र के या कि नरेन्द्र-नाथ[1] के।

(८१)

समस्त जो जीवन-रत्न है यहाँ
पिरो सका जीवन एक ताग मे,
मनुष्य आता जल के प्रवाह-सा,
तथैव जाता गति-सा समीर की।

(८२)

मरुस्थ कासार मिला जहाँ रुक,
पिया वही नीर स्व-मार्ग मे चले,
अनिश्चिता आगम की दिशा यहाँ
कहाँ गये स्थानक[2] इष्ट है नही।

(८३)

अहर्निशा की शतरज है बिछी,
नरेश-प्यादे सब खेल-वस्तु है,
गये चलाये कुछ देर के लिए,
हुये इकट्ठे फिर एक ठौर मे।

---

[1]सम्राट्। [2]स्थान।

(८४)

पथस्थ टूटी शिविरस्थली मही,
स-सैन्य आये नृप के समूह भी,
रुके यहाँ केवल एक रात्रि ही
विलोक सूर्य्योदय वे चले गये।

(८५)

मनुष्य का जीवन एक पुष्प है,
प्रफुल्ल होता यह है प्रभात में,
परन्तु छाया लख सांध्य काल की
विकीर्ण[१] होके गिरता दिनान्त में।

(८६)

मनुष्य का जीवन रंग-भूमि है,
जहाँ दिखाते सब पात्र खेल हैं,
जभी हिलाया कर सूत्र-धार ने
हुआ पटाक्षेप तुरन्त मृत्यु का।

(८७)

निसर्ग ने दिव्य विभूति जीव को
प्रदान की जीवन की अदीर्घता,
परन्तु जो जीवन मृत्यु ने दिया
सु-दीर्घ है, शाश्वत है, समस्त है।

---

[१]विशृंखलित।

(८८)

इतस्तत. जीवन-सिंधु-वक्ष पै
मनुष्य खेते अपनी तरी यहाँ,
समीप दिग्सूचक-यंत्र ज्ञान है,
अदूर है भाव-समीर-वीचियाँ।

(८९)

भरा हुआ जीवन के शराव[1] मे
प्रमोद है, है सम-भाव दु.ख भी,
परन्तु है एक विचार-मात्र ही,
द्वितीय तो एक विचार-पात्र है।

(९०)

सदा सभी की दशद्वार देह मे
न प्राण-पक्षी करता निवास है,
रहा, वही जीवन है मनुष्य का,
गया, वही मृत्यु कही गयी यहाँ।

(९१)

स-दु.ख है जो जन श्वास ले रहा,
स-क्लेश है जो नर ज्ञान-युक्त है,
न क्लेश है और न दु ख है उसे
हुआ समुत्पन्न मनुष्य जो नही।

---

[1]प्याला।

(९२)

मनुष्य का जीवन यों अदीर्घ है,
नितान्त ढाई क्षण का बना हुआ,
मुहूर्त रो लो, हँस लो अदिष्ट[1] ही,
प्रदत्त आधा पल प्रेम के लिए।

(९३)

मनुष्य का जीवन है वसन्त-सा,
हिमर्तु प्रारंभ, निदाघ अंत में,
जहाँ, सदा भाव-प्रसून फूलते
विचार के भी फलते प्रतान[2] हैं।

(९४)

लिया जभी जन्म, तुरन्त रो उठे,
विलोक पृथ्वी हँसने लगे तथा,
मुहूर्त जागे, क्षण-एक सो, उठे,
सुदीर्घ सोये, तब जागना कहाँ ?

(९५)

मनुष्य का जन्म प्रभात-काल है,
तथैव है जीवन एक बार का,
तुरन्त लाती हिचकी दिनान्त है,
स-वेग आती फिर मृत्यु-यामिनी।

---

[1]मुहूर्त, क्षण, पल। [2]लता।

(१६)

मनुष्य का जीवन लौह-तुल्य है,
गया निकाला तम-पूर्ण खान से,
जभी तपाया जग की भयाग्नि में
कि जा बुझा दु ख-दृगम्बु में, अहो !

(१७)

मनुष्य का जीवन दीर्घ-काय है,
उसे कि जो क्लेशित हो, स-दु ख हो,
परन्तु है सूक्ष्म, अदीर्घ भी उसे,
जिसे न आनन्द-प्रमोद त्यागते ।

(१८)

समीर से चालित कंज-पत्र पै
यथैव है जीवन-बुन्द नाचता,
तथा किनारे पर काल के, लखो
अजस्र ही जीवन नृत्य-लीन है ।

(१९)

सुदीर्घ जीना न प्रशंसनीय है,
अदीर्घ जीना परिशंसनीय भी,
सुदीर्घ लज्जा जिसको न चाहिये
अदीर्घ ही जीवन श्लाघ्य[1] है उसे ।

---

[1]इच्छित ।

(१००)

प्रवृत्त होते क्षण मे, मुहूर्त मे,
सुजीर्ण होते पल मे, अदिष्ट[१] में,
कि आ गया अंतिम काल दंड[२] मे,
गया कि मारा नर काल-दंड से ।

(१०१)

खड़े-खड़े जीवन अन्तरीप पै,
विलोकिये क्यों न अपार सिंधु दो,
रचे हुए स्वर्ग-अस्वर्ग देखिये,
खुले हुये दक्षिण-वाम नेत्र से ।

(१०२)

वही यहाँ जीवित[३], कीर्ति-युक्त जो,
वही यहाँ जीवित है, यशस्वि जो,
अकीर्ति-संयुक्त यशस्विता बिना
मनुष्य का जीवन मृत्यु-तुल्य है ।

[द्रुतविलंबित]

(१०३)

रसवती जिसकी मृदु भारती,
गृह-वधू शुभ पुत्रवती सती,
बहुल-दानवती वर संपदा,
सफल-जीवन है वह ही गृही ।

---

[१]क्षण । [२]मुहूर्त । [३]जीवन या जीता हुआ

(१०४)

फलवती जिसकी तप-साधना,
विपुल ज्ञानवती गति बुद्धि की,
गृह-वधू वन मुक्ति विराजती,
सफल-जीवन है वह ही यती।

ग्यारहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

दिनान्त था; पश्चिम में दिनेश के
मयूख सारे कुछ ताम्र हो चले;
समीर धीरे वहने लगा तथा
विहंग वृक्षों पर शब्द-युक्त थे।

(२)

प्रशान्त था, वासर जेष्ठ-मास का
तपा मही पै रवि पूर्ण-तेज से,
परन्तु संध्या जिस काल आ गयी
दिनेश अस्ताचल को चला तभी।

(३)

विलोकिये पूषण[1] दग्ध हो रहा
अहो! चिता पै न धरा गया अभी,
सुभीरु[2] छाया अति मूर्छिता बनी
नितान्त ही पूर्व-प्रलंबिनी हुई।

---

[1]सूर्य्य। [2]डरी हुई।

(४)

पयोद में निर्मित ज्योति-मार्ग पै
न तू गिरे, रोदन में न लीन हो,
भयंद तेरी न चिता विभासती[1]
प्रशान्त जा तू, उगना प्रभात मे।

(५)

समीर के शीतल वेग से हुई
महानदी की कुछ शीत रेणुका;
वही-कही राजकुमार बैठ के
विलोकते थे अवसान वार का।

(६)

धरित्रि के पश्चिम दिग्विभाग मे
हरे-हरे वृक्ष-समूह-पृष्ठ पै
पयाल[2] का पुंज प्रदह्यमान-सा
दिनेश का मंडल अस्त हो रहा।

(७)

लसे नभोमंडल-तुल्य सिंधु में
पयोद के द्वीप-समूह हों यथा;
उदीयमाना जिनके सु-मध्य में
प्रदीप्त थी रक्तिम एक तारिका।

---

[1]दिखलाती, प्रकाशती। [2]धान्य का भूसा या धान्य के सूखे वृक्ष।

(८)

दिनेश बाजीगर-तुल्य भूमि पै
स्व-रश्मियों की लकड़ी घुमा रहा,
अरण्य, कान्तार, महीध्र, व्योम भी
समस्त एकीकृत हो गये तभी।

(९)

दिनेश विश्रान्त महीप-तुल्य ही
स्वकीय अस्ताचल के निवेश में
दिनान्त में वायु-तरंग ले रहा
चतुर्दिशा सेवक मेघ-यूथ थे।

(१०)

कभी-कभी मेघ-समूह चीरता
बिखेरता सूर्य्य-प्रकाश विश्व पै,
निसर्ग सारा हँस के हँसा रहा
प्रवाल'-सा पश्चिम ओर जा रहा।

(११)

अहो, अहो! आज दिनान्त में, कहो,
दिनेश लज्जा-वश क्यों अलक्त है?
त्रिलोक के जीव-समूह का लखा
कि नित्य ही सर्व-क्रिया-कलाप है।

'मूंगा।

(१२)

कि यान सारे दिन व्योम में चला
धुरा हुआ तप्त मरीचि-युक्त है,
बना रहा शीतल सिधु मे जिसे,
इसीलिए व्यग्र अनूरु-सारथी[1]।

(१३)

मरीचियाँ पूषण अस्तमान की
गिरीन्द्र-शीर्षस्थ सु-रंग सोहती,
कि यामिनी-स्वागत-हेतु हो रहीं
समुद्गता सुन्दर रत्न-मालिका।

(१४)

नितान्त ऐसे बहु भाव चित्त को
कुमार के चंचल थे बना रहे,
कभी-कभी आनन मोड पूर्व में
विलोकते थे ऋजुबालिका-तटी।

(१५)

दिखा पड़ा पीपल के तले वही
कही नदी का वह घाट भी उन्हें,
जहाँ पुरी के मृत ला स-शोक हो
जला रहे थे नर आदि-काल से।

---

[1]सूर्य्य।

(१६)

बँधे हुये थे मृत-पात्र वृक्ष में
लगी हुई थी वह भस्म तीर ही,
कहीं-कहीं अर्ध-विदग्ध दारु[1] के
समूह भी खंडित थे पड़े हुये।

(१७)

श्मशान का नाम भयंद है महा
मनुष्य होते सुनके महा दुखी,
निसर्ग मानों भयभीत हो स्वयं,
स्वकीय संस्थैर्य्य[2] बिखेरता यहाँ।

(१८)

अवश्य भस्मात शरीर है यहाँ
समस्त नारी-नर क्षार हो गये,
जले यही उद्भट, भीरु, नारकी,
मनुष्य स्वर्गीय समृद्ध, रंक भी।

(१९)

नरेश, तू मूर्ख, तुझे न चाहिये
धरित्रि, रे तू महि चार हाथ की;
न चाहिये अंशुक-भूषणादि भी
सुवर्ण थोड़ा, लघु वस्त्र इष्ट है।

---

[1]लकड़ी। [2]स्थिरता।

(२०)

चला बँधे हाथ मनुष्य विश्व को,
बिता दिया जीवन चार साँस ले,
चला खुले हाथ जभी श्मशान को,
खुला सभी जीवन का रहस्य भी ।

(२१)

कभी-कभी अंतिम वस्त्र[1] को उठा
जभी बिलोका मुख देह-शेष का,
लखा जरा-जीर्ण शरीर प्रेत का,
गया तिरस्कार किया स्व-बंधु से ।

(२२)

पड़ी हुयी है कुछ श्वेत अस्थियाँ
दिनान्त में धूमिल जो विभासती ।
विचार मेरे थक-से गये, तथा
अजस्र देती यह ठोकरे उन्हे ।

(२३)

प्रभात की पूषण-रश्मियाँ यहाँ
सदा गिराती कुछ बुन्द ओस के;
परन्तु ज्यो भस्म विलोकती उन्हे
अदृष्ट होते वह भस्मसात[2] हो !

---

[1]कफन । [2]भस्म-तुल्य ।

(२४)

सभी थके मानव श्रान्ति पा सकें,
अशान्त जो दानव शान्ति पा सकें,
यही—इसी स्थान विशेष में—सदा
पुकारते लोग जिसे श्मशान है।

(२५)

यही सभी मानव ऐक्य-भाव से,
प्रशान्त यात्री सब मृत्यु-मार्ग के,
अदृष्ट होते उस दीर्घ पथ में
जहाँ न चर्चा पुनरागमादि की।

(२६)

यही चिता, भीतिद[1] काल-द्वार जो,
सनातनी नींद मनुष्य की यही—
विचार, है भाव यहाँ न अन्य है
अवाप्त होता अतिरिक्त भस्म के।

(२७)

मनुष्य का जीवन नाट्य-भूमि है,
प्रवेश-निर्वेश बने हुये जहाँ,
अवाप्त होती उसको स्व-कर्म से
शिशुत्व-तारुण्य-जरत्व-पात्रता।

---

[1]भयकर।

(२८)

मनुष्य बालारुण-सा उगा, जगी
पयोज[1]-नेत्रा-सरसी-प्रसन्नता ;
प्रगल्भता[2]-प्राप्त हुआ कि आ गयी
सरोज-संध्यारुण में विषण्णता ।

(२९)

मनुष्य जीना बहु काल चाहता,
न वृद्ध होना वह याचता कभी,
गयी, न आयी युवती[3] दशा वही,
न आ गयी, है जरठा[4] दशा वही ।

(३०)

न देह होती लकुटावलंबिता,
न ज्योति अस्पष्ट अदीर्घ नेत्र मे,
न हास्य मे कुंठितता विराजती,
न प्राप्त होती यदि वृद्धता हमें ।

(३१)

न आह होती नर की गंभीर जो,
कराह में भी कटुता न व्यापती,
न देह को जर्जरता व्यपोहती[5],
न प्राप्त होता स्थविरत्व[6] जीव को ।

---

[1]कमल । [2]प्रौढता । [3]जवानी । [4]वृद्धा । [5]विनाशती । [6]वृद्धत्व ।

(३२)

मनुष्य चाहे जितना सुखी रहे,
अनन्त चाहे उसका प्रमोद हो,
समाप्त आशा उसकी हुई जभी,
ज्वरा[1] तभी आकर कंठ दाबती।

(३३)

चतुर्दिशा मे धुँधला प्रकाश हो,
प्रलम्ब छाया गिर भूमि मे पडे,
थकान हो, निर्बलता महान हो,
विचार देखो, तब मृत्यु आ गयी॥

(३४)

तरंगिता काल-नदी बही तथा
अनन्त-धामाम्बुधि[2] पास आ गया,
बचा सका, हा! तृण भी न दड का
मनुष्य डूबा सहसा भवाब्धि मे।

(३५)

कि जर्जरा जीवन की तरी चली
तरग-सपूरित काल-सिधु मे,
थपेड़ कर्मास्रिव-नीर की लगी
तुरन्त डूबी वह मृत्यु-घाट मे।

---

[1]मृत्यु। [2]अनन्त तेज का समुद्र अथवा अनन्त स्थानवाला समुद्र।

(३६)

करें प्रशंसा अति ही मुनीन्द्र या
कवीन्द्र चाहे रच दें गुणावली,
सुकीर्तिता शेष-सहस्र-मौलि से,
भले रहे, किन्तु जरा विदूष्य[1] है।

(३७)

मनुष्य का यौवन भूल से भरा,
तथा प्रगल्भत्व त्रिशूल से भरा,
जरत्व भी निष्प्रभ धूल से भरा,
मरुस्थ भू-खंड बबूल से भरा।

(३८)

मनुष्य है जीवन-जात[2] कंज-सा
प्रफुल्ल आरंभ सु-रम्य भासता
परन्तु होता असु[3]-हीन शीघ्र ही,
विनष्ट होते बन शुष्क पत्र भी।

(३९)

शुनी-समा मृत्यु सदैव घूमती
स-तर्क प्रत्येक निवेश-द्वार पै;
कहाँ नही है यह प्राण सूंघती ?
कहाँ न जाती, जन कौन छोड़ती ?

---

[1]दोष-युक्त। [2]जीवन या जल। [3]प्राण।

(४०)

विलोकिये, सूर्य्य प्रभात, द्वार से
चला समावेष्टित[1] कीर्ति-पुंज में,
परन्तु जा पश्चिम दिग्विभाग में
न व्योम को, भू-तल में चला गया।

(४१)

प्रकंपकारी यम की अनीक[2] के
उठे जरा में कच श्वेत केतु-से,
अजस्र ही यद्यपि युद्ध-लग्न हैं,
परन्तु तो भी नर-देह हारती।

(४२)

शरीर के पंजर में फँसे हुये
विपन्न,[3] मारे पर, प्राण-वायु ने;
तुरन्त उड्डीन[4] हुआ, स्वतंत्र हो,
चला न जाने किस द्वार से गया।

(४३)

यथा डराता डर मृत्यु का हमें,
तथा न देती भय मृत्यु भी कभी,
स-तर्क पूछो यदि प्रेत-जीव से
भय-प्रदा मृत्यु, यथैव जन्म है।

---

[1]घिरा हुआ, लिपटा हुआ। [2]सेना। [3]विपत्ति-युक्त। [4]उडा।

(४४)

यथा तमिस्रा भयदा किशोर को,
तथैव है मृत्यु भयंद जीव को,
समान ही अत्यय[1] की, तमिस्र की,
कथा अश्रव्या नर भीत के लिए।

(४५)

विलीन होता जब ग्रीष्म-मेघ है,
प्रशान्त होता जब सांध्य वायु है,
निलीन होती तट की तरंग भी,
निमीलिताक्षी बनती दिन-प्रभा।

(४६)

प्रशान्त शूली पर मृत्यु भेट ले
नितान्त त्यागे तन युद्ध-भूमि में,
मनुष्य के हेतु मरे मनुष्य तो
सुयोग्य संस्थान समाप्ति का यही।

(४७)

पुकार तेरी अति दुःखदा उसे,
प्रसन्न जो प्राप्त पदार्थ मे यहां,
मनुष्य संनद्ध[2] न मृत्यु के लिये,
न प्राप्त आगामि-भवाब्धि की तरी।

---

[1]मृत्यु। [2]तय्यार।

(४८)

अवश्य ही मृत्यु भय-प्रदा उसे
खड़ा किनारे पर जो भवाब्धि के,
न लौट कोई जन दे सका पता
पयोधि-गांभीर्य्य, धरित्रि-व्यास का।

(४९)

अदीर्घ है जीवन दुःख से भरा,
प्रसून फूला, मुरझा गया यथा,
प्रभात मे आकर ओस-बुंद-सा
सरोज को कान्त किया, चला गया।

(५०)

समृद्धि की, यौवन की, सँगीत की,
विहार की, उत्सव की, प्रशान्ति की,
प्रतानिनी[1] से चल मृत्यु-सर्पिणी
प्रसह्य पीती जन-प्राण-वायु है।

(५१)

समस्त भू के वह भोग से अभी
थका न था जीव, परन्तु मृत्यु ने,
स-वेग खींचा पर-लोक की जहाँ
नितान्त-एकान्त-प्रशान्त-भूमि है।

---

[1]लता।

(५२)

प्रकाश से उद्‌गम अन्धकार का,
विमूढ़ता-निर्गम ज्ञान से जहाँ,
हुई समुत्सारित हानि-लाभ से
कही गयी मृत्यु धरित्रि मे वही ।

(५३)

लपेट लो विष्टर[1] स्वीय देह में
अनन्त-स्वप्न-स्थित चित्त को करो,
प्रशान्त सो लो उस मृत्यु-भूमि में
असंख्य प्राणी जिसमें शयान[2] है ।

(५४)

धरित्रि के दु.ख-विषाद-शोक से
प्रशान्ति पाते नर मृत्यु-धाम में,
जहाँ हवा काल-विहंग-पक्ष की
उन्हें सुलाती व्यजनानुचारिणी[3] ।

(५५)

प्रभो ! महा-दु.ख-प्रपूर्ण दृश्य है,
कि अन्त मे प्राण उड़ें मनुष्य के
किसी दशा मे (यह जानना वृथा)
किसी दिशा में (यह सोचना वृथा) ।

---

[1]विस्तर । [2]लेटे हुये । [3]पखा के समान ।

(५६)

उगा करे या कि दिनेश अस्त हो,
उठा करें मेघ समाप्त हों न हों,
न प्राणियों का उदयास्त शक्य है,
सदैव है जीवन-मृत्यु से घिरा।

(५७)

शरीर में विस्मृति मृत्यु ने भरा
मनुष्य का जीव गया द्यु-लोक को,
परन्तु तो भी मृत सो हुआ नही
समाप्ति में जागृत स्वप्न हो गया।

(५८)

समाप्त ऐसी स्मृति कौन जो न हो,
समाप्त ऐसा दुख कौन जो न हो,
परन्तु जाती स्मृति काल-धर्म से,
प्रशान्त होता दुख काल-कर्म से।

(५९)

मनुष्य जो जीवन मे थका, वही
गिरा, चला हो मृत अन्य लोक को,
विहाय भू को शिविर[1] स्थली-समा
न गेह-सी छोड़ गया द्युलोक को।

---

[1]निवास-स्थान।

(६०)

न मृत्यु से जो डरता कदापि है,
मरे, न चिंता कुछ भी कभी उसे,
महान है वीर वही मनुष्य जो
रहे सदा जीवित मृत्यु के परे।

(६१)

विचारिये संप्रति, लोक-नाथ[1] की
बिना अनुज्ञा[2] डसती न मृत्यु है,
मिली जभी शिष्टि[3] प्रयाण के लिए
खुले सहस्त्रों पथ-द्वार शीघ्र ही।

(६२)

अकाल की मृत्यु विलोक दुःख से
मनुष्य रोते मति-हीन सर्वथा,
किया गया निश्चित मृत्यु-काल क्या ?
कही गयी बिज्जु अकालकी[4] न क्या ?

(६३)

शनैः शनैः आ मकरी[5]-समान या
कि सिंहिनी-सी अति शीघ्र टूटती,
न मृत्यु का आगम चितनीय है,
विचिन्त्य है आगम का प्रकार ही।

---

[1]ईश्वर। [2]आज्ञा। [3]आशा। [4]विना समय (चमकनेवाली)। [5]नाक (जल-जन्तु) की स्त्री।

(६४)

कहाँ तुम्हारा अयि मृत्यु ! डंक है ?
चिता तुम्हारी जय ! है कहाँ, अये ?
विभीत जो सम्यक मृत्यु से न हो,
चिता-नदी-भूमि समान है उसे ।

(६५)

समृद्धि मे पंख लगे हुए मिले,
मनुष्य का कीर्ति-प्रसार स्वप्न है,
समाधि पाते नृप भोगिराज[1] हैं
चिता जगाते नर योगिराज हैं ।

(६६)

जभी हुआ निश्चय जन्म-काल का
चले जभी प्राण, अ-सार हो गये,
प्रदीप्ति[2]-पृथ्वी-जल-वायु-व्योम भी
सभी यथा-काल हुये पृथक्-पृथक् ।

(६७)

अहो ! किसी के दश शीस क्यो न हो,
प्रताप-शाली कर वीस क्यो न हो,
कहीं छिपी सूक्ष्म-शरीर मृत्यु, जो
जगज्जयी जीत सका न जेय[3] है ।

---

[1]अत्यन्त भोग-विलास करने वाले । [2]अग्नि । [3]जीतने योग्य ।

(६८)

पुकारते मृत्यु जिसे मनुष्य हैं,
तृतीय[1] है जन्म वही कहा गया,
जिन्हें हुआ रूप-रहस्य-ज्ञान वे
न मोहते पंडित नाम-भेद से।

(६९)

निपात छूटा कि प्ररोह आ गया,
तमिस्र टूटा कि प्रकाश छा गया,
रहा न अक्षुण्ण प्रमाद मृत्यु का,
गया न तो भी भय जीव-लोक का।

(७०)

शरीर में तस्कर-तुल्य मृत्यु आ
न खींचती केवल श्वास-अर्गला,
वरंच ताली[2] नव-जन्म की लगा
दिखा रही नूतन आत्म-धाम है।

(७१)

कदापि झंझानिल से गिरा नहीं,
न कीट-द्वारा प्रणिपात[3] ही हुआ,
वरंच ज्योंही फल पक्व हो गया,
अ-प्राण हो जीवित-वृन्त से चुवा।

---

[1]'स तृतीयो जन्म' इति श्रुतिः। [2]कुंजी। [3]नाश।

(७२)

प्रसून जैसे खिल शुष्क हो गया,
गिरा, हुआ शोषित ओस-वुन्द भी,
तथैव प्राणी जब जन्म ले मरा,
गया न जाने किस देश-काल मे।

(७३)

मनुष्य जाता पशु नीयमान[1]-सा
विभीत होता लख मृत्यु-वेदिका,
हुआ नही सिंचित मंत्र-नीर से
कि मृत्यु से भी वह मुक्ति पा गया।

(७४)

त्रिलोक-सम्राज्ञि! पिशाचिनी ज्वरे[2]!
समस्त प्राणी तव खाद्य-मात्र है,
विमोहता है तुझको अवश्य ही
सँगीत-सा रोदन जीव-जन्तु का।

(७५)

दिनान्त मे पूषण-रश्मि-सी चली
तन-प्रभा पश्चिम गेह-द्वार से,
जहाँ कही भी वह कान्ति-देहिनी
गयी वहाँ है रजनी न शाश्वती[3]।

---

[1]ले जाया गया। [2]मृत्यु। [3]सनातनी।

(७६)

उतारती जीवन की तरी जभी
किसी पुराने भव-सिधु-तीर पै,
पुकारते है मरना उसे, जहाँ
थपेड का किंचित भी न ज्ञात हो ।

(७७)

विहाय सीमा जब देश-काल की
मनुष्य अत्यन्त तमिस्र से घिरा,
तुरन्त आँखे मुँद-सी गयी, तथा
अवश्य ही शाश्वत नीद आ गयी ।

(७८)

नितान्त झंझानिल बाल-श्वास[1]-सा
प्रतीत होता लघुता लिये हुये,
प्रचंड आह्वान-समक्ष मृत्यु के
प्रकृष्ट प्रोद्योत[2] प्रदीप का यथा ।

(७९)

द्रुमाद्रि की निश्चित पत्र-हीनता,
क्षुपादि की सीमित पत्र-युक्तता,
परन्तु प्राणान्वित[3] की समाप्ति की
न काल-सीमा परिबद्ध हो सकी ।

---

[1]बालक की साँस के समान । [2]प्रकाश । [3]प्राणी ।

(८०)

सनातनी-शान्ति-समान मृत्यु है
अगम्य दुर्दान्त प्रशान्त स्वप्न है,
अभेद्य लीला वहिरंग प्राण की
न अंत है, जीवन-अंतरंग है।

(८१)

मनुष्य को जीवन दे रही ज्वरा
तथा रही ले वह एक प्राण ही,
अत. डरे क्यों नर मृत्यु से कि जो
नितान्त आदान-प्रदान-कार्य्य है।

(८२)

उरस्थली जीवन-की तरंग से
समुच्च-निस्पदित हो रही, अहो!
इसे कहे जो हम मृत्यु तो कहो
किसे कहे प्राण-प्रतिक्रिया यहाँ।

(८३)

प्रवीर या कायर, या यती, गृही,
नरेश या रक, यहाँ समान है,
निदान, भस्मान्त शरीर के लिए
मिला खटोला[1] यह आठ काठ का।

---

[1]अर्थी।

(८४)

न वस्तु है भू पर मृत्यु नाम की
कदापि नक्षत्र न डूबते कही,
विभासते जाकर अन्य लोक में
प्रकाशते व्योम-किरीट में सदा।

(८५)

धरित्रि में जीवन आ प्रवेग से
कहा स-तार[1] स्वर 'मृत्यु-मृत्यु' ही;
दिगंत के कंदर बोलने लगे,
किया प्रतिध्वानित 'मृत्यु-मृत्यु' ही।

(८६)

महान आश्चर्य, कि जीव जो गये
विनाश के अंध-तमिस्र मार्ग से,
कदापि लौटे न, बता सके नही,
प्रयाण का उत्तम मार्ग कौन है।

(८७)

अनेक-रूपा बहु-वेषिणी तथा
त्रिलोक-जेत्री[2] तुझ-सी न अन्य है,
सदैव तू ही सबको बता रही
कि मृत्तिका-पात्र प्रसक्ति-पात्र हैं।

---

[1]उच्च। [2]विजयिनी।

(८८)

हटी धरित्री युग-नेत्र से जभी,
सुदृश्य आया पर-लोक का तभी,
सँगीत स्वर्गीय उसे सुना पड़ा,
उड़ा जभी मानव मृत्यु-पक्ष पै।

(८९)

यही महा नींद, जिसे न तोड़ती
धरित्रि की घोर विपत्ति भी कभी,
यही निशा है, जिसको न नाशती
प्रभात की दीप्ति किसी प्रकार से।

(९०)

न मृत्यु से है मरना अ-वीरता
न मृत्यु से है डरना प्रवीरता,
न मृत्यु से उत्तम अन्य मित्र है,
जिसे न आता मरना, मरे न क्यों ?

(९१)

विचारणीया जग-व्यापिनी दशा,
यही सभी से परिचिन्तनीय है,
कि मानवों का अभिशाप है यही
डरे, मरें, आगम देख मृत्यु का।

(९२)

विनष्ट होता पहले प्रमोद है,
पुनश्च आशा करती प्रयाण है,
विभीति होती फिर नष्ट अंत में,
स-धैर्य्य आती जब मृत्यु सामने।

(९३)

मनुष्य का निश्चित अंतकाल है,
न जानते कायर क्रूर कल्मषी;
पुनः पुनः हो मृत जी रहे वही
जिन्हें कि जीना मरना समान है।

(९४)

जगज्जयी भूपति भी न जानते,
कहाँ-कहाँ विस्तृत मृत्यु-राज्य है,
प्रसार आ-सप्त-समुद्र-शेखरी
दिनान्त-रात्र्यन्त-प्रमाण व्याप्ति है।

(९५)

किरीट से मंडित मंडलेश[१] भी
निदान होते सब भस्मसात है,
निदेश देती जब मृत्यु है उन्हें
चितास्थ होते वह क्रीतदास-से।

---

[१]राजा।

(९६)

कहे गये शोष-प्रवाहिकादि[1] है
प्रसिद्ध प्राणान्तक सर्वलोक के,
सुने गये घातक है समाज के
विकार सारे कफ-पित्त-वात के।

(९७)

परन्तु है सेवक-सेविका सभी
अनेक जो अन्य उपाय मृत्यु के,
पिपीलिका कंटक भी समर्थ है
मनुष्य-प्राणान्तक कार्य के लिए।

(९८)

दिनान्त आया, रवि अस्त हो चला,
परन्तु आशा फिर भी बनी रही;
समीर निःशब्द, विहंग शान्त हैं,
परन्तु एका दिग-तारिका उगी।

(९९)

"सु-तारिके! साध्य-किरीट-रत्न तू
अदृष्ट होते रवि की सखी, तथा
प्रसाधिनी शान्ति-प्रमोद-प्रेम की,
प्रसन्न आशा-सम तू प्रकाशती।

---

[1]रोग-विशेष।

(१००)

"तुझे विलोका, खग नीड को चले
लखा तुझे तो पशु गेह को गये,
मुझे-तुझे देख स्वकीय धाम को
चले, हुआ भान दिनान्त में, प्रिये !

(१०१)

"अदीर्घ निद्रा जन की सुषुप्ति है,
सुदीर्घ निद्रा प्रतिरूप मृत्यु का,
पलंग-शय्या अति सौख्य-दायिनी
श्मशान-शय्या बहु दुःख-कारिणी ।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

निधन[1] की सुधि ही अपनोदती[2]
जगत में भव-ताप मनुष्य की,
उतर जीवन की मद-कारिता
मरण मे परिवर्तित हो गयी—

(१०३)

दिवस भी परिवर्तित हो चला
रजनि के जिस भाँति स्वरूप में,
मन प्रसन्न नृपाल-कुमार का
परम खिन्न हुआ उस भाँति से ।

---

[1]मृत्यु । [2]दूर करती ।

(१०४)

सुलभ जीवन का न रहस्य है,
अति सुदुर्लभ मृत्यु-विभेद भी,
कुछ पता न चला, तव अंत मे
उठ चले गृह को वह शीघ्र ही ।

बारहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

कुमार के यौवन-रूप-रंग पै
चढी चतुर्विंशति[1]-वार्षिकी प्रभा,
चतुर्दिशा क्षत्रिय-कुड मे चली
विवाह-चर्चा बहु धाम-धाम में।

(२)

मनुष्य कोई कहते स-तर्क थे,
न भूप जाते यदि देव-लोक को
अवश्य उद्वाहित[2] देख पुत्र, वे
प्रमोद पाते पहले प्रभूत ही।

(३)

कलत्र कोई कहती स-खेद थी,
स-जीव[3] होती जननी कुमार की,
प्रमुग्ध होती लख पुत्र की वधू
न देर होती इतनी विवाह मे।

---

[1]चौवीस। [2]विवाहित। [3]जीवित।

(४)

कनिष्ठ-भ्राता-प्रति प्रेम जेष्ठ का
यथा कहा देख पड़ा नही यहाँ,
न व्याह को चिंतित युद्धवीर हैं,
विचारते थे यह अन्य लोग भी ।

(५)

परन्तु क्या ज्ञात किसी मनुष्य को
प्रगाढ़ अंतर्हित[1] भाव देव के,
तथापि आये कुछ दूत भ्रातृ के
विवाह-आवश्यकता बता चले ।

(६)

विवाह-प्रस्ताव प्रकाशते हुये,
सँदेश-संवाहक-वृन्द ने कहा,
"प्रभो ! तुम्हारे प्रिय ज्येष्ठ-भ्रातृ को
अभीष्ट है कौतुक[2] आपका लखें ।

(७)

"प्रसिद्ध है, जीवन-अंतरिक्ष मे
प्रदीप्त पत्नी-पति चंद्र-सूर्य्य-से,
प्रसन्न यात्रा कर साथ-साथ ही
प्रमुग्ध होते निज कक्ष मे सदा ।

---

[1]गुप्त । [2]विवाह ।

(८)

"प्रयाग के संगम-सा विवाह है,
जहाँ नदी दो अति गाढ़ प्रेम की,
पृथक्-पृथक् दो रँग है तथापि वे
अभिन्न हो के बहती अजस्र है।

(९)

"विवाह की सुन्दर अक्षर-त्रयी
निबद्ध आभा जिसमे त्रिलोक की
विवाह की सीमित अंगुलीय[1] की
असीम है जीवन-संपदा जहाँ।

(१०)

"विवाह है उत्तम सौख्य विश्व का,
विवाह है पार्थिव स्वर्ग सत्य ही,
विवाह है प्रेम-प्रकाश-प्रक्रिया,
विवाह ही जीवन का प्रसाद है।

(११)

"कलत्र-द्वारा खिंचता मनुष्य है,
मनुष्य द्वारा चलती कलत्र है,
अभीष्ट हो जीवन-लक्ष्य-वेध तो
कलत्र ज्या[2] और मनुष्य चाप है।

---

[1]अँगूठी। [2]प्रत्यंचा।

(१२)

"कलत्र जो एक विहंग-बाल है,
मनुष्य भी एक रसाल डाल है,
कलत्र जो चारु लता प्रियाल[1] की,
मनुष्य तो मंजु पयोद-काल है।

(१३)

"मनुष्य के जीवन-अर्ध-भाग की
प्रपूरिका शीलवती कलत्र है।
कलत्र की अर्ध-गुणानुवृत्ति का
मनुष्य ही पूरक; सत्य जानिये।

(१४)

"वही यहाँ युग्मक[2] सौख्य-पूर्ण है,
समष्टि देते ग्रह भाग्य से जिन्हें,
सु-चित्त, सौभाग्य, तथैव व्यक्तिता
अवाप्त होते वस एक मे जिन्हें।"

(१५)

मनुष्य वे सिद्ध-सरस्वतीक को
पढा रहे थे कखगा[3] विवाह की;
परन्तु तारे हँस अन्तरिक्ष मे
विलोकते थे व्यवहार सृष्टि के।

---

[1]कदंब। [2]जोड़ा, दंपति। [3]प्रारभ।

(१६)

कुमार ने शान्त स्वभाव से सुना
संदेश सासारिक ज्येष्ठ-भ्रातृ का,
पिता न माता, इस हेतु तात की
अवश्य इच्छा परिपालनीय थी।

(१७)

"परन्तु मैंने गुरु वृद्ध से सुना
विवाह-पचत्व[1] करस्थ दैव के,
इसीलिए भाग्य-विधान पूँछता
सदैव मौहूर्तिक[2] वृन्द से रहा।

(१८)

"कहा किसी ज्योतिप-विज्ञ ने कभी
विवाह होगा मम तीस वर्ष मे,
तथा मिलेगी मुझको वधू कि जो
सुभाग्य से ही मिलती मनुष्य को।

(१९)

"सुविज्ञ त्रे कोष्ठक[3]-भाल-हस्त[4] के
वता चुके है मुझको त्रिवार यों,
अवाप्त होगी वनिता अवश्य ही
सु-कन्यका भूपति ज्ञान-देव की।

---

[1]मृत्यु। [2]ज्योतिषी। [3]जन्म-चक्र। [4]सामुद्रिक।

(२०)

"कहा किसी ने यह भी विचार के
कि प्राप्त होगी प्रथमा सुता मुझे,
न अन्य कोई उस-सी स्वजा[1] मुझे,
न अन्य कोई मुझ-सा पिता उसे।

(२१)

"अत. कहे जाकर आप तात से
मदीय आयोजन हस्त-सूत्र[2] का,
अतः परे जो कुछ इष्ट दैव को
वही सभी से परिपालनीय है।

(२२)

"उगे हुए जो ग्रह अंतरिक्ष मे
बने विधाता नर-भाग्य के यही;
अवाप्त होते जन कर्महीन को
न शातकुभी[3] फल व्योम-वृक्ष के।

(२३)

"कि तारकों के मिष व्योम देखता
मनुष्य का भाग्य धरित्रि-वक्ष पै,
कि कर्म-संचालन-सूत्र-धार हो
नृ-लोक के नायक दीप्त हो रहे।"

---

[1]कन्या। [2]विवाह। [3]स्वर्णिम।

[द्रुतविलंबित]

(२४)

विहग-तुल्य स-तारक रात्रि की
उड़ प्रतिक्षण थी घड़ियाँ रही,
पर अलौकिक भाग्य कुमार का
अयुत[१]-नेत्र नभस्थल देखता।

(२५)

गगन कोटि विलोचन से रहा
लख मनो-गति राजकुमार की,
ज्वलित जीवित नीलिम खड-से
छवि प्रसार रहा प्रति-याम था।

(२६)

उस घडी घन मे लिपटी हुयी
प्रकट चारु हुयी नभ-चद्रिका
जलद घूंघट से सरके तथा
गिर पड़े पट-से तम-केश पै।

[वंशस्थ]

(२७)

सँदेश ले वाहक ज्ञात-पुत्र से
चले, व्यतीता कुछ यामिनी हुई,
परन्तु बैठे भगवान धाम में
महान-गभीर-विचार-मग्न थे।

---

[१]करोड़ो।

(२८)

मनुष्य यों ही निज भाव-कर्पटी[1]
स-तर्क होके बुनता अजस्र है,
विचार का ही करघा बना हुआ,
लखो, रही है बुन चातुरी-तुरी।

(२९)

विचार जो जागृत एकदा हुये,
पुनश्च सोना वह जानते नहीं;
प्रकाशते विद्युत-वेग से जभी
प्रदीप्त होती मति-रोदसी[2] सदा।

(३०)

विहाय सीमा सब देश-काल की
विचार-संचार स्वतंत्र ज्यों हुआ,
कि भूमि भी है फिर भासती हमें
पवित्र-सी पुण्य-निवास-सी महा।

(३१)

निमग्न यों गूढ़ विचार में सुधी
धरित्रि को अंबर को विलोकते
विचारते थे निज कार्य्य-योजना,
प्रशान्ति बाह्यान्तर[3] वर्तमान थी।

---

[1]चादर। [2]भूमि-आकाश के बीच का भाग। [3]अंदर-बाहर।

(३२)

प्रभात के पक्ष-प्रसार पे चढ़ी
गभस्तियाँ ज्यो रवि की प्रकाशती
कुमार की प्रस्तुत भाव-शैलियाँ
विराजती थी हृदयाधिरूढ हो ।

(३३)

अनादि भू और अनन्त कालके
नितान्त निर्मोक[1] विचार व्याप्त थे,
बना रही थी जिन की गंभीरता
कि सूनु है वे अमृतत्व-कुक्षि के ।

(३४)

विचार, जो सृष्टि-प्रवाह मोडते,
प्रसूत होते वह आत्म-तत्त्व से,
कुमार की जो हृदयानुभूति को
बना रहे थे परिपुष्ट नित्य ही ।

(३५)

महान है वे नर जो विचारते
कि तत्त्व जो पुदगल[2] से वरिष्ठ है,
प्रसिद्ध आध्यात्मिक है वही कि जो
धरित्रि-संचालन मे समर्थ है ।

---

[1]नग्न । [2]भौतिक पदार्थ ।

(३६)

कुमार-मस्तिष्क-सुमेरु-शीर्ष से
विलोकते मानस-वीचि-भंगिमा
विचार के अंशु[1] प्रफुल्लता-भरे
खिला रहे थे मन-पुंडरीक यों।

(३७)

सुषुप्ति में निर्जर[2] ज्यों कभी-कभी
सु-स्वप्न देते शुभ आत्म-बोध के,
विचार-कूटस्थ कुमार-चित्त मे
प्ररोहते आत्मिक भव्य भाव थे।

(३८)

उठे अकस्मात विचार चित्त मे
निशादि में स्वच्छ निशान्त-स्वप्न-से,
जिनेन्द्र-आत्मा ढक तथ्य से गयी
यथा जल-प्लावन से अरण्य-भू।

(३९)

परन्तु आयी ध्वनि ढोल झाँझ की
विषाण-मंजीर-मृदंग-चंग की,
विवाह से आ वर लौट ग्राम में
स-मोद आया नृप-द्वार भेंट को।

---

[1]किरण। [2]देवता।

(४०)

अनेक थे नर्तक यान-सग मे
प्रसिद्ध गोत्री[1]-गण साथ-साथ ही,
युवा नवोद्वाहित अश्व-पीठ पै
सवार था, मौर सजा ललाट में।

(४१)

कुमार के सोदर[2] ज्येष्ठ नदि ने
बुला लिया शीघ्र कनिष्ठ-बधु भी,
किया नवोद्वाहित ज्ञाति-वधु ने
प्रणाम, दी भेट विवर्त[3] हो गया।

(४२)

कुमार लौटे निज धाम को तभी,
प्रसन्नता देख सभी समाज की;
महान ही श्रीवर हृष्ट-चित्त था,
वधू मिली थी मन-मोद-दायिनी।

(४३)

लखा गया हर्षित-चित्त यान में
पिता उसी श्रीवर का निविष्ट था,
सु-पुत्र का गेह बसा स्व-भाग्य से
हुआ बडा ही कृत-कृत्य[4] अंत में।

---

[1]सबंधी। [2]सगा भाई श्वे० मान्यतानुसार। [3]लौट (गया)। [4]धन्य।

(४४)

प्रसन्न होगी जननी विलोक के
नवा वधू के वदनारविन्द को,
निवेश मे कार्य्य-सहायिका मिली
महान होगी वह हृष्ट-मानसा।

(४५)

अवश्य सौभाग्यवती हुई वधू,
जिसे मिला श्रीवर रूपवान यों,
अवश्य कालान्तर मे स्व-चित्त से
बिसार देगी स्व-पिता-निवास भी।

(४६)

सभी बराती अति हृष्ट-चित्त-से,
प्रकाम मिष्टान्न मिला, सुखी हुये,
समस्त, साराश, प्रसन्न-चित्त थे,
विवाह आयोजन पूर्ण हो चुका।

(४७)

निदान ऐसे बहु भाव ले चले
कुमार आये अपने निवेश मे,
व्यतीत यामा[1] युग याम हो चुकी
सुषुप्ति में वीर प्रशान्त हो गये।

---

[1]रात्रि।

(४८)

कुमार सोये, सब विश्व सो गया,
कि सृष्टि सारी प्रकृतिस्थ हो गयी,
कि योग-निन्द्रा-वश रात्रि देख के
निसर्ग-नाडी कुछ मंद हो गयी।

(४९)

प्रदीप देखो, प्रहरी[1]-समान ही
विलोकना लौ प्रभु से लगा-लगा,
नमस्त तारे बरसा रहे मुदा
शनैः शनैः स्वस्थ समृद्धि व्योम की।

(५०)

मनुष्य के निद्रित-चित्त-राज्य पै
निशीथ! तेरा अधिकार ख्यात है,
प्रसार ज्योत्स्ना-मय चान्द्र[2] जाल को
रहा फँसाता मन-मीन तू सदा।

(५१)

शिशुत्व का आसव पी प्रमत्त हो,
प्रगाढ निन्द्रा-वश ज्ञात-पुत्र है,
निबद्ध है यौवन नेत्र-कंज में
मरंद[3]-माध्वी[4]-रस-मत्त भृंग हो।

---

[1]पहरा देनेवाला। [2]चन्द्रमा का। [3]पराग। [4]मदिरा।

(५२)

निशीथ-जाता मन की विमोहिनी
सहोदरा-तुल्य महा सुषुप्ति की
मनस्क[1]-चिंता-परिहारिणी हुई
शयान निद्रे ! सँग ज्ञात-पुत्र के ।

(५३)

कुमार-आत्मा कितना कृतज्ञ है,
त्वदीय; निद्रे ! इस काल ला सकी
सुधी सुपर्वा अमरेन्द्र-लोक से
जुड़ा अनागार[2] समाज साधु का ।

(५४)

महान ताली कलधौत[3]-धाम की
निबद्ध-स्वातन्त्र्य, सुषुप्ति तू सदा,
असीम तेरा अवरोध चित्त पै,
बना मनो-सिंधु रही प्रशान्त तू ।

(५५)

सुषुप्ति की, ओस गिरी अनन्त से
गिरा दृगो पै मधु-भार शान्ति का,
सरोज वे संपुट हो गये अभी
बने कभी जो कि महा प्रफुल्ल थे ।

---

[1]मनकी । [2]निर्गृही । [3]स्वर्ण ।

(५६)

कुमार सोते सुख-शान्ति से रहे
चतुर्दिशा मे प्रहरी अमर्त्य है,
सुपर्व आशीर्वचनावली मुदा
झरा करे तारक-वृन्द भाल पै।

(५७)

सुषुप्ति मे राजकुमार को हुआ
प्रमोद-कारी वह दिव्य स्वप्न जो
न सत्य था, किन्तु असत्य भी न था,
अदृष्ट था, किन्तु, तथापि दृष्ट था।

(५८)

दिखा पड़ा स्वप्न कि एक भूप की
सुता 'यशोदा' अति ही गुणागरी,
पवित्र-चारित्र्य-मयी सुशोभना,
हुआ उसी से उनका विवाह है।

(५९)

व्यतीत दो वर्ष हुये विवाह के
मनोज्ञ कन्या 'प्रियदर्शना' मिली,
विवाह-चिन्ता जिसकी हुई उन्हें
अभी न थी यद्यपि आठ वर्ष की।

(६०)

पुनश्च आया वटु[1] एक स्वप्न में
कुमार से यों कहने लगा, "प्रभो !
सुना किसी भूपति ज्ञान-देव की
सुता-यशोदा भवदीय गेह में।

(६१)

"जिसे यशोदा कहते सभी, वही
महीपजा का उपनाम-मात्र है
सभी जनों ने सब ज्ञाति-बंधु ने
रखा महासिद्धि प्रसिद्ध नाम है।

(६२)

"प्रभो ! नही है 'प्रिय दर्शना' सुता
पुकारते है सब 'शान्ति' नाम से
विवाहके योग्य हुई अभी नही
परन्तु सौभाग्य भविष्य-गर्भ में।"

(६३)

"न स्वप्न है स्वप्न स-स्वप्न के लिए,
सुषुप्ति है जागृत जीव के लिए,
दशा तुरीया[2] जिसको अवाप्त हो
सुषुप्ति है, जागृति है न स्वप्न है।"

---

[1]ब्रह्मचारी। [2]चतुर्थी।

(६४)

कुमार के आत्म-स्वरूप-सूर्य्य के
चतुर्दिशा सुप्ति-तुषार-अंक में,
सु-स्वप्न यों विम्बित इन्द्रचाप-से
दिखा रहे थे चल-चित्र लोक के।

(६५)

मनुष्य की आयु अनुत्तमोत्तमा[1]
विनिर्मिता है उस सूक्ष्म तत्त्व से
कि जो बनाता उस स्वप्न-जाल को
कि जो फँसाता भव-भूति-भाव में।

(६६)

निशीथ का वारिधि, स्वप्न की तरी,
अचूक दिक्सूचक-यंत्र ऋक्ष का,
प्रयत्न का वायु मनोनुकूल था
महासुधी नाविक भागधेय[2] के।

(६७)

कुमार-सदृष्ट अनूप स्वप्न की
सदा रहेगी चल सूत्र-धारिता,
हुआ समारब्ध यहाँ स-कर्म, जो
अवश्य होगा परिपूर्ण भी वहाँ।

---

[1]अच्छी और बुरी। [2]भाग्य।

[द्रुतविलंबित]

(६८)

यदि कहीं बिकते वह स्वप्न हों,
प्रकट जो करते सुख-दुःख हैं,
क्रय किन्हें कर विक्रय भी किन्हें
परिनिवर्तन श्रेय स्व-गेह में।

(६९)

रजनि में लसता वह स्वप्न है
दिवस में बनता वर दृश्य जो
कुसुम है क्षुप-पल्लव-रूप जो
सुमन जो लसता, वह घास है।

(७०)

मनुज-जीवन भाव समुद्र है
सुखद स्वप्न लसे बहु द्वीप-से;
उस अ-वायु, अ-शब्द अ-लोक में
दृढ़ सुषुप्ति-तरी[1] पहुँचा सकी।

(७१)

अति अविश्वसनीय सुषुप्ति के
वचन मे यदि निश्चय हो कहीं
निकट काल भविष्यत मे सभी
मनुज ले सुन वृत्त स्व-भाग्य का।

---

[1]नौका।

(७२)

हृदय में स्थित राजकुमार के
सुखद भाव उठे इस काल जो,
सुर उठा उनको निज शक्ति से
गगन में द्रुत लेकर जा रहे।

[वंशस्थ]

(७३)

कुमार जागे कुछ आज पूर्व ही,
जगा दिया या सुख-स्वप्न ने उन्हे,
अभी त्रियामा अवशेष[1] थी, अभी
विछे हुये अवर-मध्य ऋक्ष थे।

(७४)

तमिस्र-सिंहासन पै निशीथिनी[2]
निरंशु-शोभामयि वर्तमान थी,
न नेत्र-कर्णादिक के लिए, अभी
चतुर्दिशा मे विषयानुभूति थी।

(७५)

तना चँदोवा सिर पै तमिस्र का
जड़ा हुआ मौक्तिक के समूह से,
अहो ! न जाने किस दिव्य हस्त ने
किया जिसे निर्मित आदि-काल से।

---

[1]बाकी। [2]रात्रि।

(७६)

सहस्र-नेत्रा क्षणदा[1] कुमार को।
विलोकती थी अति प्रेम-भाव से
प्रबुद्ध हो और निमीलिताक्ष हो
बड़ी-घड़ी वे अवलोकते रहे।

(७७)

स-शब्द जिह्वा प्रति ऋक्ष में न क्या?
न बात क्या वे करते कुमार से?
विचार-मध्याह्न हुआ निशीथ में
प्ररूढ वारेश-समान बुद्धि है।

(७८)

नभस्थ सप्तर्षि विलोकते कि जो
विभूति देते नर भाग्यवान को,
कुमार को जो कि समृद्धि दे रहे
बना रहे राज्य मनोनुकूल है।

(७९)

उन्हें फँसाना भव-मुक्ति[2]-मीन है,
बना रहे है अति पुष्ट जाल वे,
न टूट जाये वह एक खोच मे
स-देह हो जीवन-मुक्त पारधी[3]।

---

[1]रात्रि। [2]जन्म-मरण। [3]शिकारी।

(८०)

मनुष्य मस्तिष्क स्वतंत्र वस्तु है,
स-शक्त ऐसा कि यथा समुच्च है,
प्रगाढ़ छाया जिसकी प्रलविनी
प्रसारती दीर्घ प्रभाव विश्व में।

(८१)

स्व-भाव पक्षी-सम चित्त-नीड मे
फुला रहा स्वीय पतत्र है अभी,
कभी उड़ेगा जग को पवोधता
लिए हुए सद्गति व्योम-चारिणी।

(८२)

अवश्य ही धन्य अनन्त व्योम है,
विलोकता जो कि असंख्य नेत्र से
कुमार को देकर दीप्ति, जो बनी
अनूप आशा नव-प्रात-कारिणी।

(८३)

चतुर्दिशा, ईश्वर से विनिर्मिता
विराजमाना यह सृष्टि धन्य है,
अतीव धन्या वह सृष्टि भी कि जो
मनस्थिता है, अनुभूयमान[1] है।

---

[1]जिसका अनुभव हो रहा है।

(८४)

कि शक्ति-मत्ता उस शक्तिमान की
स-नीतिमत्ता -'विभुता - अभिज्ञता,
बनी नटी-सी अभिनृत्य-लीन है
वसुंधरा सुन्दर रंग भूमिमे ।

(८५)

धरित्रि दुःखान्त-सुखांत नाट्य है
मनुष्य आवर्त-निवर्त[1] पात्र हैं,
कृतज्ञ होना उस सूत्र-धार का
सदैव सामायिक साधु कर्म है ।

(८६)

पतत्र[2] से है लघु वायु, वायु से
शिखी, शिखी से लघु भाव भासते ।
विलोकिये, है लघु भाव से यही
जिसे सभी संसृति नाम दे रहे ।

(८७)

कुमार ! तेरे मन को धरित्रि के
पदार्थ खींचें न कदापि वेग से,
यहाँ कहीं संग्रह में न सौख्य है
रसाक्त[3] है केवल एक त्याग ही ।

---

[1]आने-जाने वाले । [2]पख । [3]रस-युक्त ।

(८८)

कुमार ! तेरे रस-सिक्त चित्त को
न सृष्टि का दृष्टि-विकल्प खीच ले।
धरित्रि का भोग वही मनुष्य ले
जिसे सदा हो भव-भोग भोगना।

[द्रुतविलंबित]

(८९)

इस प्रकार निशीथ कुमार ने
सजग काट दिया ध्रुव ध्यान में;
फिर जगी नभ मे सुखदा उषा
सुमन[1] के मनके अधिदेव के।

[वंशस्थ]

(९०)

निशा चली पूर्व प्रभात हो गया,
विहंग बोले, द्रुम डोलने लगे,
परन्तु डोला न कदापि लक्ष्य से
प्रगाढ भावान्वित चित्त, देव का।

(९१)

धरे हुये दक्षिण गुल्फ[2] वाम पै
तथैव होठों पर निष्ठ[3] तर्जनी,
गंभीर मुद्रा मुख की महान थी,
गयान थे चिन्तन-दत्त-चित्त वे।

---

[1]देवता। [2]टखना। [3]रखी हुई।

(९२)

कठोर था चित्त महान सत्य-सा,
विचार-धारा दृढ़ शुद्ध न्याय-सी,
विवाह हो ? दिव्य विवाह-योजना
बना रही मानस एक-तन्त्र थी ।

(९३)

विवाह हो ? दिव्य विवाह क्यों न हो,
बरात हो ? देव-समाज क्यों न हो,
बनें नहीं पाणि-गृहीत मुक्ति क्यों
न देव हों श्रीवर-मंडलेश[1] क्यों ।

(९४)

अखंड भोगी बनता अवश्य, तो
अखंड ही हो दृढ ब्रह्मचर्य्य भी,
अखंड हो प्रेम, अखंड ज्ञान, तो
अखंड-सौभाग्यवती प्रिया मिले ।

(९५)

प्रभात मे संबल[2] और आ गया
प्रदीप्त तारागण और हो गये,
दिवा-धरित्री प्रतिबिंबिता हुई
समुच्च आसक्ति, दृढा विभावना[3] ।

---

[1]दूलह-समाज मे श्रेष्ठ । [2]उत्तेजना । [3]विचार-धारा ।

(९६)

धरित्रि की भी करुणामयी गिरा
हुई अभिव्यक्त पिकी-निनाद से,
चतुर्दिशा शब्द समीर ले चला,
समा गयी जागृति भूमि-लोक में।

(९७)

प्रभात में कोकिल-कंठ-व्याज से
वसन्त के पादप कूजने लगे,
अनूप अध्यात्म-संगीत काकली[1]
उडेलते थे प्रति कर्ण-कुंज में।

(९८)

निसर्ग-आत्मा बन कुज-कोकिला
विवाह-संगीत अलापने लगी।
प्रफुल्ल शाखी पर मंजरी हुई
खिली वनों में कलिका गुलाब की।

(९९)

कि कोकिलाएँ रत-काकलीक[2] हैं
कि लीन केका-रव में मयूरियाँ,
कि वप्र-घाटी-धुनि[3]-अद्रि-व्योम में
विवाह-संवाद-प्रसार हो रहा।

---

[1]कोकिला की ध्वनि। [2]गायन-लग्न। [3]नदी।

(१००)

पिकी ! तुम्हारी यह गीति शाश्वती
सुनी गयी संतत राव-रंक से,
अतः मुझे दो वह तान, जो सदा
मुदा सुनी जाय जिनेन्द्र-भक्त से।

(१०१)

पिकी ! तुम्हारे स्वर जो मनुष्य मे
प्रसन्नता हैं भरते दिवौकसी[1]
प्रबुद्ध नक्षत्र प्रकाश से हुये
सरस्वती के मृदु वीन-राग से।

(१०२)

प्रसन्न प्रत्येक पलाश वृक्ष का,
प्रबुद्ध प्रत्येक तरंग नीर की,
वन-प्रिये ! मत्त कूहूक से हुये
कुमार-हृत्तन्त्र मधु[2]-प्रभात में।

(१०३)

अनूप आयोजन स्वीय व्याह का
पड़े-पड़े सोच रहे कुमार थे,
कि पूर्व में ब्रह्म-मुहूर्त की त्विपा
स-हर्ष आयी उदयाद्रि-शृंगपै।

---

[1]दैवी। [2]वसन्त।

(१०४)

वसन्त-दूती फिर भी अधीर-सी
सुना रही थी निज गान देव को,
वही कही आ शुक अंतरिक्ष से
कुमार-उद्बोधन-लीन हो गया।

(१०५)

प्रसन्न गाती उड़ने लगी शुकी
कुमार को वृत्त बता-वता यही
कि मैं न होती यदि मंजुपाठिका[1]
न कीर गाता वन रक्त-तुड यों।

(१०६)

सँगीत उड्डीन कि कीर-कंठ से
कि कीर उड्डीन सगीत से हुआ,
अहो ! इसी तर्क-वितर्क मे तभी
विहाय शय्या विवुधाग्रणी[2] उठे।

[द्रुतविलंबित]

(१०७)

चिमिक[1] ! तू मुझसे भय-भीत हो
न उड़ या कर पक्ष-निपात ही,
श्रवण-हेतु त्वदीय संगीत मैं
उठ उपस्थित हूँ शयनांक में ।

---

[1]शुकी । [2]आर्य्य-पुत्र । [1]तोता ।

(१०८)

जिस प्रकार सुनिर्मल व्योम है,
विमल है जिस भाँति गभस्तियाँ,
स्वर तथैव त्वदीय प्रशस्त है,
तरल तान महा अभिराम है

(१०९)

चिमिक ! दे छिपने पिक पत्र में,
यह प्रकाश त्वदीय निकेत है,
निवस तू इस में मृदु गा, यथा
ऋक विनिःसृत श्रोत्रिय[१]-कंठसे।

(११०)

प्रतनु[२] दूत ! पथी नभ-मार्ग के
कर तिरस्कृत तू महि-वेदना,
अवनि की बहु-मूल्य समृद्धि से
अधिक सौख्य भरा तव गान में।

(१११)

गगन में इस भाँति, उड़ा करे
मन यथा निज-तंत्र यतीन्द्र का
मृदुलता-मय गायन गा, सखे !
वचन ज्यों सुख-धाम मुनीन्द्र के।

---

[१]वेद-पाठी। [२]क्षुद्रशरीरी।

तेरहवाँ सर्ग

[द्रुतविलंबित]

(१)

समय था दिन के अवसान[1] का
तरणि-तेज तिरोहित[2] हो चला
तरु-शिखास्थित वृन्द विहग के
चहचहाकर गायन गा उठे।

(२)

पवन शीतल-मंद सुगंधि से,
सरित भी निशि-वासर-संधि से,
कह चले अपनी-अपनी कथा,
वह चले कुछ मंथर[3] चाल से।

(३)

कुसुम पै कण आकर ओस के
दल भिगोकर निश्चल हो गये,
गगन में उडु-वृन्द शनै शनैः
टिमटिमाकर सुस्थिर-से हुये।

---

[1]समाप्ति। [2]लुप्त। [3]धीमी।

(४)

विटप - पल्लव - पुज - हरीतिमा
हरित और हुईं उस काल मे,
सलिल की कुछ नीलिम वीचियाँ
असित और हुईं नभ-नील-सी ।

(५)

झुक प्रदीप-प्रदर्शिनि साँझ ने
दिवस की अति भव्य समाधि पै,
अ-तुल स्नेह-समेत स-धूम-से
गगन-भू पर दीप जला दिये ।

(६)

समय शान्त, प्रशान्त निकेत था,
विगत-ध्वान्त नितान्त कुमार थे,
निधन से जननी-जनकादि के
परम खिन्न, परन्तु अ-मोह थे ।

(७)

उस घड़ी उनके मन में उठीं
परम पावन 'द्वादश भावना—
इस प्रकार विनिर्गत हो चली
विरति[1]-पोषण-कारिणि चितना ।

---

[1]विराग ।

(८)

दिवस का अवसान विलोक के
खग हुये स्व-कुलाय[1]-निविष्ट है,
प्रसर राज्य रहा अव शान्ति का
मन प्रशान्त हुआ, तन श्रान्त है।

[वंशस्थ]

(९)

[2]मनुष्य का जीवन मृत्यु से घिरा
युवा-अवस्था परिणाम मे जरा,
शरीर है आलय रोग-सर्प का,
अनित्य है इन्द्रिय-सौख्य-सपदा।

(१०)

स्वकर्म के ही परिपाक से सदा
मनुष्य के कील्ति[3] जन्म-मृत्यु है,
मनुष्य ही क्या, सव जीव-मात्र में
अनित्यता है, क्षति है, निपात है।

(११)

जग-त्रयी की सव सौख्य-सपदा
विनष्ट होती दिन चार-पॉच मे
कही अभी, या कल, या परश्व[4] ही
समस्त भू की मिटती यथार्थता।

---

[1]घोंसला। [2]अथ अनित्य भावना। [3]सीमित। [4]परसों।

(१२)

मनुष्य ऐसे, जिनके निमेष से
अशेष होते प्रलयोदयादि हैं,
रहे न वे भी इस जीव-लोक मे
पुनः कथा क्या कृमि-कीट की कहें।

(१३)

समुद्र के बुद्‌बुद-तुल्य शीघ्र ही
विनष्ट होते जब लक्ष इन्द्र भी,
हमें कहाँ जीवन दीर्घ प्राप्त हो,
खड़ा महाकाल समक्ष ही सदा।

(१४)

विनष्ट होती अचला धरा जहाँ,
विशीर्ण[1] होते हिमवान-विन्ध्य भी,
विहीन होते जल से समुद्र हैं—
पुन. कथा क्या नर-देह की कहें।

(१५)

हमें मही मे जितने पिता मिले,
मिले यहाँ पै जितने स्व-बंधु भी,
न भूमि में है उतने कणांशु या
भ-चक्र में है उतने न ऋक्ष[2] भी।

---

[1]टुकड़े-टुकड़े। [2]तारा।

(१६)

मनुष्य अव्यक्त[1] स्व-जन्म-पूर्व में,
तथैव है वे सब व्यक्त मध्य में,
पुनश्च अव्यक्त विनाश के परे
अत: वृथा है परिदेवना[2] सभी ।

(१७)

सु-पुत्र, पत्नी, धन, कीर्ति जीव को
प्रमोद देते यह बात सत्य है,
परन्तु हा ! जीवन तो मनुष्य का
प्रमत्त-नारी-दृगपांग-लोल[3] है ।

(१८)

सहस्र माता, शत कोटि पुत्र भी,
पिता असंख्यात कलत्र मित्र भी,
अनन्त उत्पन्न हुये, जिये, मरे,
न मैं किसी का, वह भी न मामकी ।

(१९)

यथैव भू की हरिता तृणावली
स-हर्ष खाते बलि-जीव-जन्तु है,
तथैव भूला यम-यातना, अहो !
मनुष्य भारी भ्रम भोग भोगता ।

---

[1]अदृष्ट । [2]रोना-पीटना । [3]चचल ।

(२०)

प्रसन्न होते मति-मंद द्रव्य से
तथैव रोते बन रंक अंत में,
विवेक द्वारा यदि वे विलोक लें,
अतथ्य संपत्ति, विपत्ति भी वृथा।

(२१)

समुच्च वातायन, गोपुरादि[1] से
सुसज्जिता तुंग-शिखा हवेलियाँ;
विनष्ट होती क्षण एक मे, तदा
कहो, कहे क्या, नर-देह की कथा।

(२२)

सरोज-पत्र-स्थित नीर-बुन्द-सी
मनुष्य की आयु अतीव चंचला,
अवश्य ही दंशित[2] व्याधि-व्याल से,
दशा महा-शोक-हता त्रिलोक की।

(२३)

मनोहरा स्त्री, अनुकूल मित्र भी,
महा सुधी बाँधव, योग्य भृत्य भी,
गजेन्द्र-बाजी सब नाशवान हैं
नरेन्द्र-मंत्री सब ह्रासवान है।

---

[1]गवाक्षादि। [2]काटा हुआ।

(२४)

इसी लिए जीव सुधी वरण्य जो
प्रवृत्त होते जिन-धर्म-मार्ग में,
न विश्व में सतत सौख्य-लाभ है,
अत: विचिन्त्या[1] परमार्थ-साधना।

[द्रुतविलंबित]

(२५)

जिस[2] प्रकार फँसा हरि[3]-दष्ट्र में
अवल बालक युक्ति-विहीन हो,
उस प्रकार बंधा नर विश्व में
शरण पा सकता न अ-धर्म की।

[वंशस्थ]

(२६)

अत सुधी मानव को त्रिलोक में
शरण्य अर्हन्त-पदाब्ज है सदा,
जिनेन्द्र-पूजा, तप, दान, जाप ही
अजस्र रत्न-त्रय प्रेय है उसे।

(२७)

जिनेन्द्र के ही उपदेश, गेय है,
मुनीन्द्र के ही पद-पद्म ध्येय है,
जिनेन्द्र-सिद्धान्त सदैव श्रेय है,
अत धरो ध्यान मुनीन्द्र-मार्ग का।

---

[1]चिन्तनीय। [2]अथ अशरण-भावना। [3]सिंह।

(२८)

सदैव मोक्ष-प्रद जैन-धर्म है,
तथैव रत्न-त्रय-साध्य मोक्ष है,
वितान[1] है, मोक्ष अनन्त सौख्य का
प्रतान है सौख्य अनादि शक्ति का।

(२९)

मनुष्य जो केवल-ज्ञान-देव को
विहाय सेते सुर नाम-मात्र के,
सदैव पाते गति दुर्दशामयी
न मुक्त होते भव-रोग-दोष से।

(३०)

अमोघ रत्न-त्रय के प्रभाव से
अवाप्त होती वह मुक्ति जीव को
अनन्त - आनंद - समुद्र - रूपिणी
प्रसिद्ध है जो जिन-धर्म-शास्त्र में।

[द्रुतविलंबित]

(३१)

मनुज[2] को भव दो, मृत एक है,
अपर मे न तु संभव-शक्ति ही,
भटकता युग-संसृति-मध्य में
शरण-हीन अनादृत जन्तु-सा।

---

[1]तनाव, [2]चाँदना। [2]अथ ससारानुप्रेक्षा।

[वंशस्थ]

(३२)

अनादि है विश्व, अनंत लोक है,
(सुना गया भव्य-अभव्य जीव से)
विमूढ को जो सुख-दु:ख-पूर्ण है,
नितान्त दु:खाश्रय विज्ञ मानते।

(३३)

विमूढ पाते सुख भोग मे सदा
न विज्ञ होते विपयादि-लुब्ध है,
प्रतीति सारे भव-भोग की, अहो !
निकृष्ट होती नरकादि-हेतु है।

(३४)

मनुष्य के कर्म, शरीर-धर्म भी,
यहाँ न ऐसे जिनको यथार्थ ही,
किये नही त्यक्त-गृहीत जीव ने
प्रसिद्ध ऐसा यह द्रव्य-लोक है।

(३५)

प्रदेश ऐसा इस लोक मे नहीं
न जीव उत्पन्न हुए, मरे जहाँ;
सुविज्ञ-प्राणी-गण मे इसीलिए
प्रसिद्ध प्रामाणिक क्षेत्र-लोक है।

(३६)

न काल ऐसा इह लोक मे बचा,
न जीव उत्पन्न हुये, मरे जहाँ,
इसी लिए विज्ञ-समाज मे यहाँ
प्रसिद्ध वैज्ञानिक काल-लोक है।

(३७)

न योनि ऐसी इस भूमि में बची
जिसे न सप्राप्त हुआ स्व-जीव हो,
अतः जिसे पंडित विश्व मानते,
प्रसिद्ध भू मे भव-लोक है वही।

(३८)

सदैव प्राणी भ्रमते त्रिलोक मे
स्व-कर्म मिथ्यात्व-समेत पालते,
समेटते अर्जित पाप-पुज हैं,
प्रभावशाली यह भाव-लोक है।

(३९)

विमुक्ति-दाता जिन-धर्म-श्रेष्ठ है,
अतः करो पालन यत्न से इसे,
अनूप रत्न-त्रय-रूप मोक्ष का
निधान[1] है केवल-ज्ञान सर्वश.।

---

[1]भाडार।

[द्रुतविलंबित]

(४०)

सुहृद[1]-संग सदा रहना हमे
वितरता बल-बुद्धि-विवेक है,
पर असग-प्रसग परेश का
विदित आत्म-समुन्नति-हेतु है।

[वंशस्थ]

(४१)

सदैव प्राणी इस मर्त्य-लोक मे
रहा अकेला, रहता अ-सग है,
रहा करेगा यह संग-हीन ही
प्रसग होगा इसका न अन्य से।

(४२)

असंग लेता नर जन्म विश्व मे
असग ही है मरता पुन पुन,
सदा अकेला सुख-दुख भोगता
न अन्य साक्षी इसका त्रिलोक मे।

(४३)

अ-संग ही सौख्यद भोग भोगता,
अ-संग ही दुखद रोग भोगता,
सदैव प्राणी यमराज-सग मे
असंग जाता, फिरता अ-सग है।

---

[1]अथ एकत्व-भावना।

(४४)

सदा अकेला करता कु-कर्म है
कुटुम्ब के पालन-हेतु विश्व मे,
इसीलिए पुद्गल-पाप-बंध से
अवश्य पाता नरकाधिकार है।

(४५)

परन्तु जो मानव मुक्त-संग हो
लगे हुये सम्यक-दर्शनादि मे,
व्यतीत भू में करते स्व-कर्म है,
कहे गये केवल-ज्ञान-संयमी।

(४६)

असंग भू में करते व्रतादि है,
असंग सारे तप-जाप साधते,
वही महा विज्ञ मनुष्य अंत में
अतीव पाते सुख पुण्य-बंध से।

(४७)

विभूतियाँ, जो सुर-लोक-सिद्ध है,
महान निःश्रेयस-संपदा तथा
विशुद्ध कैवल्य-प्रदा त्रिलोक मे
अवाप्त होती गतियाँ विदग्ध[1] को।

---

[1]पंडित।

(४८)

मनुष्य रत्न-त्रय से अवश्य ही
विनाशता कर्म-अकर्म-भावना,
सदैव एकत्व-प्रधान भाव ही
प्रभावशाली अपवर्ग[1]-हेतु है।

[द्रुतविलंबित]

(४९)

मनुज[2] है प्रकृतिस्थ अवश्य, पै
इतर है जग आत्म-स्वरूप से,
जगत है जड़, चेतन जीव है,
परम पुद्गल-तत्त्व अ-तत्त्व है।

[वंशस्थ]

(५०)

मनुष्य ! तू अन्य समस्त जीव से
स्व-कर्म से भी अतिरिक्त है सदा,
पदार्थ सारे महि-नाक-पाक के
सखे ! असबद्ध त्वदीय प्राण से।

(५१)

सदैव कर्मोदय से मनुष्य को
अवाप्त होते जग-जाति-बंधु है,
पिता तथा पुत्र, कलत्र, मित्र भी
न साथ जाते, रहते न संग मे।

---

[1]मुक्ति। [2]अथ अन्यत्व-भावना।

(५२)

शरीर ही, जो निज अंत-रंग-सा,
न साथ देता जब है मनुष्य का,
कहें कथा क्या वहिरंग-वर्तिनी
कुरंग-नेत्रा त्रिनता[1] कलत्र की।

(५३)

स्व-चित्त, जो पुद्गल-कर्म-जन्य है,
स्वचित्त—संकल्प-विकल्प-युक्त जो,
तथैव वाचा युग-भांति की, सखे!
विभिन्न है निश्चय जीव-तत्त्व से।

(५४)

मनुष्य के कर्म विभिन्न जीव से,
विभिन्न ही है परिणाम कर्म के,
सभी नरों के सुख-दुःख आदि भी
विभिन्न है आत्म-स्वरूप से सभी।

(५५)

विभिन्न है ज्ञान-स्वरूप जीव से,
स्व-कर्म की साधन-मात्र इन्द्रियां,
विभिन्न है सम्यक राग-द्वेष भी
विकर्म सारे अथवा अ-कर्म भी।

---

[1] तीन स्थानों से टेढ़ी।

(५६)

अत. करो यत्न-समेत भावना
शरीर-द्वारा उस आत्म-तत्त्व की,
अनादि, अक्षय्य, अनंत जो सदा
निरीह,[1] निर्धारित निर्विकार जो—

[द्रुतविलंबित]

(५७)

अशुचि[2]-पूर्ण शरीर मनुष्य का,
विदित जो मल-मूत्र-पखाल है,
अगरु से न तु चदन-लेप से
विमलता-मय भासित हो सका।

[वंशस्थ]

(५८)

शरीर है निर्मित सप्त-धातु से,
निधान है जो मल-मूत्र आदि का;
न-मोह सेवा इसकी अकार्य्य है
सु-बुद्धि-संबोधित ज्ञानवान से।

(५९)

यहाँ बुभुक्षा जलती प्रकोप से,
यहाँ पिपासा पलती प्रदाह से,
विनाशती यौवन अग्नि काम की
जरा न जाती जब आचुकी यहाँ।

---

[1]इच्छा-हीन। [2]अथ अशुचि-भावना।

(६०)

शरीर ही है बिल काम-सर्प की,
यही कुटी निश्चित राग-द्वेष की,
कुगंधिता है स्वयमेव ही नही,
वरन् बनाती शुचि-हीन वस्त्र भी।

(६१)

शरीर चाहे अति हृष्ट-पुष्ट हो,
तथैव हो सुन्दर शौर्य्यवान या
परन्तु होता परिणाम में सदा
अभूरि[1] मुष्टिगत[2]-भस्म-तुल्य ही।

(६२)

शरीर का पालन रोग-मूल है,
शरीर का शोषण योग-दातृ है,
इसीलिए क्यों अपवित्र देह से
करो न संपन्न स्व-धर्म-साधना।

(६३)

अनित्य देहस्थित नित्य जीव है,
करे न निःश्रेयस-प्राप्ति कार्य क्यों ?
अवस्थिता केवल ज्ञान में सदा
नितान्त ही मुक्ति महा पवित्र है।

---

[1]थोड़ी। [2]मुट्ठी भर।

[द्रुतविलंबित]

(६४)

सलिल[1]-आस्रव हो जिस कूप मे
विगत-नीर कभी बनता नही,
इस प्रकार स-कर्म मनुष्य को
कब अवाप्त हुई गति निर्जरा ?

[वंशस्थ]

(६५)

स-राग आत्म-स्थित राग-भाव से
समागता पुद्गल-राशि कर्म हो,
शरीर मे आगत दु:ख-दायिनी
प्रसिद्ध है आस्रव नाम से सदा।

(६६)

स-छिद्र जैसे जल-यान मे, जभी
प्रविष्ट होता जल, डूबती तरी;
तथैव कर्मागम से मनुष्य का
अवश्य होता विनिपात[2] अंत मे।

(६७)

अतः सुनो आस्रव-हेतु भी, जिन्हे
महान ही दुष्कर नाशना हमें;
प्रमाद-उत्पन्न अनर्थ मूल जो
प्रसिद्ध मिथ्यात्व समस्त भूमि मे।

---

[1]अथ आस्रव-भावना। [2]नाश।

(६८)

कहा गया पंच प्रकार का वही
प्रधान है आस्रव हेतु कर्म का,
प्रसिद्ध जो द्वादश भाँति की यहाँ
अनर्थिनी[1] घोर विराग-हीनता।

(६९)

प्रमाद जो पंचदशी विभक्ति[2] का
तृतीय है हेतु, चतुर्थ और भी—
सभी कषाएँ सब दुष्ट योग, जो
न दूर होते शतश. प्रयत्न से।

(७०)

उन्हे सदा सम्यक-ज्ञान-हेति[3] से
विनाशना ही ध्रुव वीर-धर्म है,
सुदीर्घ कर्मास्रव-द्वार ज्ञान से
न बन्द जो है करता प्रयत्न से—

(७१)

न पाप से मुक्ति मिली कभी उसे,
न पा सका केवल-ज्ञान-लाभ सो,
मनुष्य कर्मास्रव रोकता तभी
विमुक्ति रत्न-त्रय से समेटता।

---

[1]अनर्थकारी। [2]विभाजन। [3]शस्त्र।

[द्रुतविलंबित]

(७२)

मनुज[1] योग-तपादिक-यत्न से,
निगम-आगम के स्थिर ज्ञान से,
कर निराश्रित आस्रव कर्म का
स-मुद रत्न-त्रयी फल भोगते।

[वंशस्थ]

(७३)

मुनीश योग-व्रत-गुप्ति आदि से
स-यत्न कर्मास्रव-द्वार रोकते,
वही क्रिया संवर नाम-धारिणी
विमुक्ति-संपादन मे अमोघ है।

(७४)

चरित्र जो तेरह भाँति का, तथा
स्व-धर्म, जो एक-नव[2] प्रकार का
प्रसिद्ध जो बारह भावना यहाँ
परीषहाघातक हेतु ख्यात[3] जो,

(७५)

विशुद्ध सामायिक पाँच भाँति का,
विमर्ष जो उत्तम ज्ञान-ध्यान का,
यही सभी सत्तम हेतु जानिये
अमोघ[4] कर्मास्रव के निरोध मे।

---

[1]अथ संवर-भावना। [2]दश। [3]बाईस। [4]अव्यर्थ।

(७६)

मुनीश, जो संवर-दत्त-चित्त हैं,
प्रकाशिता है जिनकी गुणावली,
वही मही के चल[1] धर्म-वृक्ष है,
तथा उन्ही के अवदात[2] ध्यान हैं।

[द्रुतविलंबित]

(७७)

द्विविध कर्म-विनाश-प्रवृत्ति का
सुफल है वह संपति-प्राप्ति, जो
न मिलती इस भू-तल में उसे
कर न जो सकता प्रभु-भक्ति है।

[वंशस्थ]

(७८)

अतीत[3] से संचित कर्म-राशि का
विनाश होना अविपाक निर्जरा;
कही गयी सिद्ध मुनीन्द्र से सदा
अवश्य ही संग्रहणीय साधना।

(७९)

स्वभाव से ही वह, जो मनुष्य के
स्वतंत्र कर्मोदय-काल में उठे,
सदा परित्याग करे स-यत्न सो
विकार-युक्ता सविपाक निर्जरा।

---

[1]चर। [2]श्वेत। [3]अथ निर्जरानुप्रेक्षा।

(८०)

यथा-यथा योग-तपादि यत्न से
करे यती नित्य स्व-कर्म-निर्जरा,
तथा-तथा ही उसके समीप मे
अवश्य आती शुभ मोक्ष-इंदिरा।

(८१)

सभी सुखो की खनि[1]ख्यात निर्जरा,
विमुक्ति-योषा-प्रद ज्ञात निर्जरा
विकर्म-यामा-कृत प्रात निर्जरा
सु-ध्यान-भू मे अवदात निर्जरा।

[द्रुतविलंबित]

(८२)

सलिल[2]से, महि से, नभ से, तथा
अनिल से जग पावक से बना,
भुवन सप्त अधोपरि राजते
सदन के सु-मनोहर खंड-से।

[वंशस्थ]

(८३)

यथा अधोलोक, तथैव अंघ्रि है,
यथैव है मध्य, तथैव नाभि है,
यथैव है ऊर्ध्व, तथैव शीर्ष है,
यथैव ब्रह्माण्ड, तथैव पिंड[3] है।

---

[1]खान। [2]अथ लोक-भावना। [3]शरीर।

(८४)

त्रिलोक है, या जग सप्त-लोक है,
अनन्त है संसृति या कि सान्त है,
दिनेश-राकापति भी न जानते
समस्त तारे अनभिज्ञ-भेद[1] हैं।

(८५)

निधान है स्वर्ग अनन्त सौख्य का,
विधान है नारक कोटि दु:ख का,
इसीलिए सात्त्विक धर्म-ग्रंथ में
प्रशंसनीया अपवर्ग - साधना।

(८६)

सभी नगों की गणना असार है,
नदी-नदों का कहना निरर्थ है,
अयुक्त है सागर-मंथना, अतः
स-सार है केवल-ज्ञान-भावना।

[द्रुतविलंबित]

(८७)

परम[2] दुर्लभ सभव[3] लोक में,
विदित है नर-योनि सुदुर्लभा;
अति अलभ्य शुभा गतिधर्म की
बहु अलभ्य महा पद बोधि का।

---

[1]रहस्य न जाननेवाले। [2]अथ बोधि-दुर्लभ भावना। [3]जन्म।

[वंशस्थ]

(८८)

चतुर्विधा जो गतियाँ कही गयी,
सुदुर्लभा है प्रथमा दशा उन्हे,
प्रसिद्ध जो मानव-योनि नाम से
अलभ्य, चिंतामणि-ज्यो समुद्र मे ।

(८९)

सुदुर्लभा भी यह आर्य्य-भूमि है,
अलभ्य उत्पत्ति मनुष्य की यहाँ,
सुदुर्लभा उत्तम वंश-प्राप्ति भी,
सुदुर्लभा दीर्घ मनुष्य-आयु है,

(९०)

अलभ्य पचेन्द्रिय-पूर्णता यहाँ,
सुदुर्लभा निर्मल-बुद्धि-प्राप्ति भी,
अलभ्य है मंद-कषाय-भावना
सुदुर्लभा मुक्ति-प्रदा विभावना[1] ।

(९१)

तथा, मही-मध्य अलभ्य श्रेष्ठता
अलभ्य है धार्मिकता मनुष्य को,
अलभ्य है सम्यक-दर्शनात्मिका[2]
विशुद्धि, विज्ञान-चरित्र आदि भी ।

---

[1]विचार । [2]सम्यक-ज्ञान-वाली ।

(९२)

इसीलिए धर्म महान श्रेष्ठ है,
इसीलिए कर्म-प्रधान विश्व भी,
लगे हुये मानव धर्म-कर्म में
विचारते केवल-ज्ञान-मर्म्म है।

(९३)

विमुक्ति पाना इस जन्म-मृत्यु से
महान नि.श्रेयस ख्यात विश्व में;
सदैव श्रेयांस[1] स्व-धर्म भावना,
तथैव प्रेयांस[2] जिनेन्द्र-वंदना।

[द्रुतविलंबित]

(९४)

शिथिल[3] जीव-निकाल भवाब्धि से
अमित अर्हत् का पद दे; वही
विदित है प्रभुता प्रभु-धर्म की
विपुल मुक्ति-प्रदायिनि लोक में।

[वंशस्थ]

(९५)

क्षमा-दया, संयम, सत्य, शौच से,
तपाऽऽर्जव-त्याग-विरागभाव[4] से,
कि युक्त जो मार्दव, ब्रह्मचर्य से
दशांग-शोभी जिन-धर्म-रूप है।

---

[1]श्रेय। [2]प्रेय। [3]अथ धर्मानुप्रेक्षा। [4]अकिंचनता।

(९६)

स्व-धर्म धर्मी यदि पालता रहे,
अ-कर्म कर्मी यदि घालता रहे,
अवश्य ही हो उसको अवाप्त तो
विमुक्ति-दात्री सुख-संपदा सदा।

(९७)

स्व-धर्म ही श्रेय सभी प्रकार से
विधर्म ही हेय मुमुक्षु[1] के लिए,
न इन्दिरा ही मिलती उसे, अहो!
अवाप्त होती जिन-धर्म-संपदा।

(९८)

अलभ्य जो संपति है त्रिलोक में,
न भाग्य-आमंत्रित जो हुई कभी,
अवश्य होती वह स्वीय योपिता,
जिनेन्द्र के धर्म-प्रभाव से सदा।

(९९)

सदा सवित्री[2]-सविता[3] स्व-धर्म है
स्व-धर्म भ्राता, स्व-सखा स्व-धर्म है,
स्व-धर्म विद्या धन भी स्व-धर्म है,
स्व-धर्म सर्वोत्तम—सर्व-श्रेष्ठ है।

---

[1]मोक्ष की इच्छा वाला। [2]माता। [3]पिता।

(१००)

स्व-धर्म चिन्तामणि-कल्पवृक्ष है,
स्व-धर्म संपूजित कामधेनु भी,
स्व-धर्म ही भू-गत स्वर्गलोक में,
स्व-धर्म ही श्रेय, विधर्म हेय है।

(१०१)

अतः करो पालन नित्य धर्म का,
पदाब्ज-प्रक्षालन सत्य-धर्म का,
न प्राप्त होती जिसके बिना कभी
मनुष्य को केवल-ज्ञान-कल्पना।

[द्रुतविलंबित]

(१०२)

हृदय-अंबुधि को जिनराज के
अति तरंगित-सा करता हुआ
विरति - पोषक - द्वादश - भावना-
निचय[1] निश्चय ही उठने लगा।

(१०३)

अब महान प्रमत्त, गजेन्द्र का
दृढ़ अलान[2] हुआ श्लथ[3], देखिए;
चल न दे यह कानन को कहीं
रह गया अवरोध न अंत में।

---

[1]समूह। [2]बंधन। [3]ढीला।

चौदहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

न काल जाते लगता विलम्ब है,
विहाय चारित्र्य न काल-लब्धि भी,
विलोकते विश्व-दशा सनातनी
कुमार को त्रिंशति[1] वर्ष हो गये।

(२)

दिखा पड़े काल-महा-समुद्र में
कि वर्ष वे त्रिंशति बुन्द-तुल्य थे,
त्रिलोक मे कौन पदार्थ है कि जो
न काल के नाशक हस्त में गया।

(३)

कुमार पीछे फिर देखने लगे
कि दृष्टि से ओझल भूत ज्यों हुआ,
शनैः शनैः काल-कपाट[2] तीस वे
हुये सभी मद-विराव[3] बन्द थे।

---

[1]तीस। [2]किवाड़े। [3]चुपके।

(४)

कपोत के चंचल पक्ष-पात से,
शशाद[१] की निस्वनिता उड़ान से,
खगेन्द्र[२] के निर्मल स्वर्ण पंख-से
अतीव तीव्रा द्रुत चाल काल की ।

(५)

अभी हुआ जन्म, प्रतीति-सी हुई,
हुये अभी ही गत मातृ-पितृ भी,
कुमार को यों गति काल की लगी
कि चंचला-चालित शीघ्र-गामिता ।

(६)

प्रशान्त हो स्वप्न-प्रवाह मे यथा
मनुष्य जाता बहता अनन्त को,
कुमार जाते उस भाँति तैरते
भविष्य-काल-प्लव[३] में शयान हो ।

(७)

विभीत होके प्रभु-ब्रह्मचर्य्य से
कराल कालांगुलि[४] कोमला चली,
पड़ी न रेखा जिसकी ललाट पै,
न मौलि में अंकित लेखनी हुई ।

---

[१]बाज । [२]गरुड़ । [३]नौका । [४]समय की उँगली ।

(८)

परन्तु तो भी वह सोचने लगे
कि चाप-धारी अति दक्ष काल है;
अजिह्म-गामी जिसके कलंब[1] है,
जरा न जाने किस बाण से चली।

(९)

न ज्ञात कार्य्यालय गुप्त काल का
विचित्र ऐसा यह तन्तुवाय[2] है,
अतीव है निस्वन कार्य-योजना
महान है कौशल मूक हस्त का।

(१०)

कुचक्र भी काल-विहग का सदा
सभी पदार्थों पर रम्यमाण[3] है,
गिरा रहा उज्वल पक्ष से यहाँ
विभावरी[4] शाश्वत अंधकार की।

(११)

अभिन्न मैत्री इतनी मनुष्य की
हुई किसी भी सुर से कभी नहीं,
बता सके निश्चित रूप से कि जो
अवाप्त होगा दिन दूसरा मुझे।

---

[1]बाण। [2]कपड़ा बुननेवाला। [3]चलनेवाला। [4]रात्रि।

(१२)

त्रिधा प्रसिद्धा गति काल-चक्र की,
विचारिये तो, गति-हीन भूत है;
अमंद जाता जब वर्तमान, तो
शनै शनै आ मिलता भविष्य भी।

(१३)

अपार कालोदधि की तरंग के
समान है वर्ष असख्य, जानिये;
मनुष्य के रोदन-अश्रु-क्षार[1] से
महान खारी जल है भवाब्धि का।

(१४)

उठी तरगे अति घोर वेग से
कि मर्त्य-सीमा-सब ओत-प्रोत है;
प्रशान्ति मे भी छल से न हीन, तो
कराल क्या प्लावन की कथा कहे।

(१५)

कुमार का मानस काल-लब्धि से
हुआ अभिप्रेरित कर्म-नाश मे,
विचार आया, क्षय मोह-शत्रु का
अवश्य रत्न-त्रय-हेति[2] से करें।

---

[1]लवण। [2]हथियार।

(१६)

पवित्र चारित्र्य विना वृथा गया
धरित्रि मे जीवन तीस वर्ष यों;
गये यथा-काल न पुष्प जो चुने
विनष्ट होते उपयोग के विना ।

(१७)

पुरा हुये श्री ऋषभादि देव जो
प्रसिद्ध तीर्थंकर लोक-लोक मे,
सुदीर्घ आयुष्य उन्हे अवाप्त था—
परन्तु मेरी अति न्यून आयु है ।

(१८)

कृतार्थ-जन्मा प्रभु नेमिनाथ हैं
स्वकीय जो जीवन सूक्ष्म जान के
अरण्य को जा सुकुमार आयु मे,
मुमुक्षु[1] थे, जीवन-मुक्त हो गये ।

(१९)

मनुष्य साधारण आयु पा यहाँ
वृथा गँवाते दिन अध-वृद्धि है;
तथैव ज्ञान-त्रय-नेत्र-वान मैं
विता रहा वासर अज्ञ-तुल्य हूँ ।

---

[1]मोक्ष पाने की इच्छावाले ।

(२०)

हुई न आत्मा यदि कर्म के बिना,
न रंच ज्ञान-त्रय-प्राप्ति-लाभ है।
न मोक्ष-लक्ष्मी-मुख जो विलोकता
बने उसी के दृग गोल ग्राव[1] है।

(२१)

गिरे मनीषी यदि मोह-कूप में
वृथा हुई; तो सब ज्ञान-अर्जना;
किया करे कोटि उपाय सर्वदा
न प्रज्ञता[2] से कृत कर्म छूटता।

(२२)

मनुष्य मोहादिक भाव में भले
मरे, न तो भी अघ मे प्रलिप्त हो;
कि मोह उत्पादक राग-द्वेष का,
कि राग-द्वेषादिक घोर पाप हैं;

(२३)

मनुष्य वैराग्य-कृपाण-धार से
संहार दे मोह दुरन्त शत्रु को;
कि मोह ही सर्व-अनर्थ-मूल है,
अनर्थ का है फल पाप-बद्धता।

---

[1]पत्थर। [2]पाण्डित्य।

(२४)

वही जयी है, नर धीर-वीर जो;
वही कृती हैं जन धर्मवान जो,
वरिष्ठ वे दुर्जय काम जीतते
न वश्य[1] होते जन लोभ-क्रोध के।

(२५)

विरक्त हो शैशव-यौवनादि से
मुमूर्षु[2] प्राणी गृह-बंध त्यागता;
प्रसक्त हो मोक्ष-सुखानुभूति में
मुमुक्षु योगी तजता शरीर है।

(२६)

नितान्त ही यौवन में प्रशान्त जो
वही सुधी शान्त-स्वभाव मान्य है;
हुई जरा में जब जीर्ण धातुएँ[3]
प्रशान्ति आयी, तब कौन लाभ है?

(२७)

शिशुत्व है दूषित निर्विवेक से,
युवात्व है गर्हित काम-भाव से,
रुजत्व से है जरता[4] कलंकिता,
अतीव सोपद्रव जीवनायु है।

---

[1]वशीभूत। [2]मरने का इच्छुक। [3]रक्त-मांसादिक। [4]वृद्धता।

(२८)

विलोकता अश्मक[1] रत्न-बुद्धि से,
तथैव, कान्ता-कुच कंज-कोष-से,
शरीर पंचात्मक आत्म-भाव से,
विमोह-लीला नर की निहारिये ।

(२९)

गया जहाँ तत्त्व मिला वहाँ नही,
यहाँ नही क्या कुछ भी वहाँ नही,
विचार देखा, यदि है अवश्य तो,
यथार्थ कैवल्य-पदार्थ विश्व मे ।

(३०)

कुटुम्ब-चितामय प्राणि-मात्र के,
विनष्ट होते गुण-शील है तथा,
यथा भरा नीर अपक्व कुंभ मे
विनष्ट होता अति अल्प काल मे ।

(३१)

लगी सटाकी[2]-सम घात मे जरा,
अमित्र है रो ग समस्त शत्रु-से;
शनैः शनैः आयु व्यतीत हो रही
न मोह में सुप्त मनुष्य जागता ।

---

[1]पत्थर । [2]सिंहिनी ।

(३२)

स्वकीय अंगुष्ठ उरोज-भ्रान्ति से
यथैव पीता शिशु ज्ञान-हीन है,
तथैव प्राणी सुख-भ्रान्ति मे पड़ा
न पा सका सार असार विश्व का ।

(३३)

निदान ऐसे बहु भाव चित्त मे
हुये समुत्पन्न अनेक वार जो,
कुमार ने निश्चय देह-त्याग का
किया, हुये तत्पर आत्म-बोध मे ।

(३४)

स-भृत्य-मित्रादिक जेष्ठ भ्रातृ को,
सभी जनो को, सब पौर-वृन्द को
बुला लिया सादर ज्ञात-पुत्र[1] ने
समूढ[2] सारे प्रभु-धाम मे हुये ।

(३५)

सभी नरो के सँग छद्म-वेष मे
सुपर्व लौकान्तिक आ गये वही,
प्रविष्ट उत्तुंग निवेश मे हुये
यथेच्छ-वार्ता-श्रवणार्थ देव से ।

---

[1]श्री महावीर । [2]एकत्रित ।

(३६)

कुमार ने सादर प्रेम-वाक्य से
किया मुदा स्वागत बंधु-वर्ग का;
सु-योग्य दे आसन स्नेह-भाव से
उन्हें बिठाया बहु भाँति मान दे।

(३७)

विनम्र-भावान्वित बद्ध-हस्त वे
सुधी क्षमा-याचन-दत्त-चित्त हो,
लगे सभी से विनयानुरोध मे
पवित्र-आत्मा कहने प्रसन्न हो।

(३८)

"स्व-धर्म मे संस्थित-बुद्धि हो, सखे!
प्रसाद सद्भाव-समेत माँगता;
अभिन्न! मेरे अपराध हों क्षमा
किये गये जो अनजान-जान मे।

(३९)

"सभी जनों को करता क्षमा, तथा
सभी नरों से अब याचता क्षमा,
किये गये जो मन-कर्म-वाक्य से
वयस्य[1]! मेरे अपराध हो क्षमा।

---

[1]मित्र।

(४०)

"समस्त आचार्य्य, समस्त वंधु से
सभी उपाध्याय सभी स-पक्ष[1] से,
स-धर्म आगतुक-वृन्द से तथा
हुआ क्षमा-याचन-दत्त-चित्त मैं।

(४१)

"तुम्हे दिया कष्ट सुवंधु! आज जो
क्षमा करे, था अनिवार्य्य कार्य्य भी,
गुने सभी कारण गूढ ध्यान से
क्षमा करे आगम-कष्ट के लिए।

(४२)

"प्रगाढ-निद्रा-वश आज रात मे
हुये मुझे अद्भुत स्वप्न तीन, जो,
वता रहे जीवन-मार्ग की दिशा,
वना रहे है चल चित्त मामकी।

(४३)

"लखा पिता को उस वेष मे कि जो
न धारते जीवन-काल मे रहे,
न केश ही केवल भद्र थे, वरन्
न वस्त्र आकाश विहाय अन्य था।

---

[1] कुटुम्बी-मित्र आदि।

(४४)

"स-प्रेम वे सस्मित पूछने लगे,
'अपत्य[1]! क्या तू पहचानता मुझे ?
सुधी-विनिर्दिष्ट मदीय मार्ग की
कभी करेगा अनुवर्तना न क्या ?'

(४५)

"निषण्ण[2] देखा निज को पुन., सखे !
स्वदेह-अभ्यंतर अंब-अंक में
लखी स्व-माता कर फेरती हुई
सहर्ष मेरा सिर सूँघने लगी;

(४६)

"तदा दृगो में भर अश्रु की घटा
सुवृत्त मेरा सब पूँछती हुई,
विलोक आ-शीर्ष-पदान्त[3] सो मुझे
विवाह-चर्चा कुछ छेड़ती हुई।

(४७)

"विलोकती दूलह-वेष में मुझे
उतारती प्रेम-समेत आरती;
स-हर्षलाजा[4] मुझ पै बिखेरती
अलापती मंगल-गान थी मुदा।

---

[1]पुत्र। [2]बैठा हुआ। [3]नखशिख। [4]धान के भुने लावे।

(४८)

"तदा लखा अग्रज ! आपको, मुझे
बना रहे भूपति सार्व-भौम थे,
प्रजावती[1] थी संग आपके कि जो
मुझे हँसाती, हँसती स-प्रेम थी।

(४९)

"विचार मैंने इन तीन स्वप्न पै
किया, मुझे निश्चय बन्धु ! हो गया,
विधेय आदेश मुझे यथार्थ ही,
अवश्य जाना गुरु-दिष्ट[2] मार्ग से।

(५०)

"अपत्य को पूज्य पिता-निदेशना[3]
सदैव सम्मान्य, न अन्य मार्ग है,
तथैव माता-अभिलाष-पूर्ति भी
कभी नहीं है अवहेल्य[4] पुत्र से।

(५१)

"मदीय माता करती विवाह ही
चली गयी, किन्तु न व्याह हो सका,
मिली नहीं इच्छित कन्यका कि जो
सुदुर्लभा, सुन्दर, अद्वितीय हो।

---

[1]भावज। [2]गुरु (पिता) द्वारा बतलाये हुये। [3]आज्ञा। [4]तिरस्करणीय।

(५२)

"अखंड-सौभाग्यवती कलत्र का
अवाप्त होना कुछ खेल है नहीं;
वही बली पा सकता उसे कि जो
खपे, मरे, और जिये अनेकधा।

(५३)

"सुना किसी से वह दिव्य नायिका
विराजती तेरह-खंड[१] धाम पै
अजस्र आरोहण[२] रात्रि-वार का,
सुमार्ग भी दीर्घ त्रयोदशाब्द[३] है,

(५४)

"न शीघ्र-गामित्व, न मंद-गामिता
न यान-साहाय्य, न दंड-धारणा,
न पास पाथेय[४], न दास-मंडली,
तथापि जाना अनिवार्य्य कार्य्य है।

(५५)

"अभूरि-भिक्षा - उपवास - साधना,
अवस्त्र-से ही फिरना इतस्ततः,
शयान[५] होना महि-क्रोड में सदा
अजस्र आगे बढ़ना विधेय है।

---

[१]तेरहवाँ गुणस्थान। [२]चढ़ना। [३]१३ साल का। [४]सबल। [५]लेटना।

(५६)

"न सर्प से भीति, न वन्य जन्तु से,
न ग्राम से प्रीति, न काम धाम से,
न खड्ग से त्रास, न हेति से भिया[1]
नितान्त नि शक प्रयाण ध्येय है ।

(५७)

"जिसे सदा अक्षय सिद्धि श्रेय है,
स्व-चित्त निर्वाण-समीप नेय है,
अजस्र नि.श्रेयस-कीर्ति गेय है,
अवश्य कैवल्य उसे विधेय है ।

(५८)

"अत: चलूंगा कल मैं अवश्य ही
मुझे महा-सिद्धि-विवाह ध्येय है
प्रवृत्त होगी कल मार्ग[2]-मास की
पवित्र शुक्ला दशमी मनोरमा ।"

(५९)

सभी जनो ने वह खिन्न भाव से
कमार-संकल्प सुना अवाक हो,
परन्तु लौकांकित देव-मंडली
तुरन्त बोली जयकार दे उन्हे :—

---

[1]डरै । [2]मार्ग-शीर्ष मास ।

(६०)

"प्रभो ! तुम्ही क्षत्रिय-श्रेष्ठ ! धन्य हो,
तुम्ही प्रतापी जग में अनन्य हो,
सुमार्ग कल्याण-समेत आप्त हो,
विभो ! तुम्हें सम्यक ध्येय प्राप्त हो।

(६१)

"सदा तुम्हारी जय हो दयानिधे !
समस्त हिंसा क्षय हो, कृपानिधे !
दुरन्त हो नर्तन नष्ट पाप का,
तुरन्त हो वर्तन धर्म-चक्र का।

(६२)

"विनाशकारी बन मोह-शत्रु के
प्रभो ! करोगे जग-हेतु कार्य्य जो,
वहित्र[1] होगा वह विश्व-सिंधु का,
दिनेश होगा भव[2]-रात्रि का वही।

(६३)

"स्व-धर्म-रत्न-त्रय-प्राप्त हो, प्रभो !
धरित्रि में उन्नत भव्य जीव को,
विलीन मिथ्यामत का तमिस्र हो
दिखा पड़े मोक्ष-रमा मनोरमा।

---

[1]जहाज़। [2]जगत।

(६४)

"प्रभो ! तुम्हारे वचनाम्बुवाह[1] में
कठोर वैराग्य निविष्ट वज्र-सा,
किया करेगा वह रेणु-सात्[2] ही
विचूर्ण उत्तुंग गिरीन्द्र मोह का।

(६५)

"नमामि, स्वामिन् ! गुण-सिंधु आपको
नमामि त्रैलोक्य-सुबन्धु ! आपको
नमामि भक्तोदधि-चन्द्र ! आपको
नमामि योगीन्द्र ! मुनीन्द्र ! आपको।"

(६६)

न जेष्ठ भ्राता नृप [3]युद्धवीर की
दृगम्बु-बुन्दावलि बन्द हो सकी,
अजस्र-धारा बन नेत्र-युग्म से
वही, हुये सम्यक रुद्ध-कंठ वे।

(६७)

घनिष्ठ प्रेमीजन भी विलोक के,
समर्थ थे अश्रु-निरोध में न जो,
शनैः शनैः रोकर भाव-वारि का
किया परीवाह[4] सभा-समाज में।

---

[1]वचन-रूपी मेघ। [2]रेणु-तुल्य। [3]नन्दिवर्धन का गुणकृत नाम।
[4]बाहर निकालना।

(६८)

समस्त अंत.पुर की कुल-स्त्रियाँ,
समागता जो उस काल हो सकी,
विलोक यों नव्य विवाह-प्रक्रिया
दृगम्बु लाजा-सम डालने लगी।

(६९)

बने सभी मौक्तिक स्वाँति-बुन्द वे
पवित्र, जोतिर्मय, स्वच्छ, सात्त्विकी;
गिरे सभी शुद्ध दया-पयोद से
प्रपूत दैवी कर से अजस्र ही।

(७०)

न कामिनी-कुंडल-रत्न भी तथा,
तथा न मोती नृप के किरीट मे,
न रात्रि-नक्षत्र तथा लखे गये,
परार्थ-संवाहित[1] अश्रु है यथा।

(७१)

कुमार हो नाशक अन्य-दुःख के
करो इन्हें स्वीकृत, भेंट लो, प्रभो!
बहे तुम्हारे जिगमीषु[2]! हेतु है
कृतज्ञता से परिपूर्ण भाव ही।

---

[1]दूसरे के लिए बहाये गये। [2]जाने की इच्छा वाले।

(७२)

वियोग की है यह मौन भारती,
दृगम्बु-धारा कहते जिसे सभी,
असीम स्नेहाम्बुधि की प्रकाशिनी
समा सकी जो न स-शब्द वक्ष में ।

(७३)

सभी यथा-काल चले गये तभी,
मनुष्य आगंतुक नारि-वृन्द भी,
लगे सुधी सम्यक दत्त-चित्त हो
स्वकीय-संपत्ति-प्रदान-कार्य्य मे ।

(७४)

बुला-बुला याचक दूर-दूर से
कुमार देते बहु दान-मान थे,
हिरण्य, हीरा, हय, हस्ति हर्म्य[1] के
लुटा दिये केवल एक बार ही।

(७५)

सभी गुणो से अति श्रेष्ठ त्याग है,
न त्याग से उत्तम अन्य साधना,
धरित्रि में केवल एक त्याग से
सु-पूज्य होते पशु-ग्राव[2]-वृक्ष हैं ।

---

[1]हवेली (घर) के । [2]पत्थर ।

(७६)

मनुष्य का गौरव दान-मान से,
न वित्त के संचय से कदापि है,
पयोद है संस्थित उच्च व्योम में,
पयोधि नीची महि में पड़े हुये।

(७७)

समस्त संपत्ति कुमार दे चुके,
हुये अयाची[1] द्विज-भिक्षु-रंक भी,
रहा न कोई गृह-मध्य पात्र भी
बचीं करों मे कुश-मुद्रिका शुभा।

(७८)

रहा नही सोच हिरण्य हर्म्य का,
रही न चिंता हय की न हस्ति की,
स्वतंत्र, स्वच्छन्द, ममत्व-हीन हो
कुमार सोये सुख से निशीथ मे।

[द्रुतविलंबित]

(७९)

गगन रत्न-जड़ा मधु-पात्र था,
रजनि-आसव से परिपूर्ण जो,
स-मुद पीकर, संयुत[2] हो गये
सुख-सुषुप्ति-समीहित स्वप्न से।

---

[1]तृप्त। [2]समेत।

[वंशस्थ]

(८०)

प्रभूत प्राची विकचीकृता[1] हुई
गुलाब का बाग खिला दिगन्त मे,
समायताकार मिलिन्द-वल्लभा
महा सहा का रवि फुल्ल पुष्प था।

(८१)

उगी हुई आयत अतरिक्ष-सी
प्रभा लिये चुबन-सी सुकोमला
सु-भीरु-नैकटच-समान माधवी
प्रसन्नता से भरती दिगन्त थी।

(८२)

समुद्र के सुन्दर आल-[2]वाल से
उगा, उठा, और चढा, बढ़ा तभी
बिखेरता स्वीय प्रसून-पखडी
महा सहा-पादप-सा तमिस्रहा।

(८३)

दिनेश ज्यो-ज्यो अतिरंजना[3]-मयी
प्रभा लिये तारक-देश से बढ़ा,
प्रपात त्यो-त्यो उस अग्नि-काड मे
प्रफुल्ल-कंजारुण-पत्र का हुआ।

---

[1]फूली हुई। [2]पेड़ो का थाला। [3]अत्यत रगनेवाली।

(८४)

समंततः क्षत्रिय-कुंड-ग्राम के
कुमार-इच्छा प्रतिबिंबिता हुई,
विलीन आँसू गगनस्थ ऋक्ष से
हुये सभी पौर-समूह के तभी।

(८५)

कुमार-आनंदित-चित्त-उत्स[1] से
प्रमोद, हो नि.सृत धाम-धाम मे,
प्रगाढ़ फैला; जिस भाँति दीप का
प्रकाश होता घन अंधकार मे।

(८६)

सभी गृही, और समस्त गेहिनी,
अनूप आनन्द-तरंग मे बहे,
कुमार के मोक्ष-वधू-विवाह से
स-मोद होना सबका यथार्थ था।

(८७)

प्रसून, लाजा, दल, रंग आदि से
समस्त थी सज्जित दर्शकावली,
स-मोद एकत्रित द्वार पै हुई
महा प्रतापी नृप युद्धवीर[2] के।

---

[1]स्रोत। [2]भगवान के भ्राता का नाम।

(८८)

तुरन्त ही दर्शक-वृन्द से सभी
गली तथा मार्ग प्रपूर्ण हो गये
असंख्य घंटा-ढप-ढोल-झल्लरी—
मृदंग-वीणादिक बाजने लगे।

(८९)

सजी गयी चन्द्रप्रभाख्य पालकी
कुमार लाये गुरु-भ्रातृ से गये,
प्रभूत रोमांच प्रगाढ प्रेम से
स-नीर थे लोचन युद्धवीर[1] के।

(९०)

कुमार होके शिविकाधिरूढ यों
चले जभी उत्तर ज्ञात-खंड[2] को,
प्रसून-वर्षा करने लगे सभी
समूढ नारी-नर हर्ष-युक्त हो।

(९१)

सजे हुये भूषण और मालिका
पवित्र पाटाम्बर[3]-युक्त देह में
प्रतीत थे श्रीवर[4]-से कुमार यों
चले जभी मोक्ष-वधू विवाहने।

---

[1]नन्दिवर्धन का गुणकृत नाम। [2]स्थल विशेष [3]रेशमी कपड़ा। [4]दूल्हा

(९२)

हुई अनेका अनुगा[1] विलासिनी
सुवासिता, सुन्दरि, मत्तकाशिनी,
समस्त थी मोहक-गान-तत्परा,
समेत-उल्लास, नदी-तरंग-सी।

(९३)

कुमार थे भूप भगीरथाख्य-से
सुरापगा-बीचि-समूह अंगना,
बहा तभी उत्तर को शनैः शनै
तरंगिणी का उलटा प्रवाह था।

(९४)

मनुष्य सारे जयकार बोलते
महान-आशीष-प्रदान-लीन थे,
"प्रभो ! तुम्हारी जय हो, प्रमोद हो,
समस्त-कल्याण-निधान आप हों।"

(९५)

समीर पंखा करता स-मोद था,
पयोद थे ऊपर छत्र-से तने,
चतुर्दिशा सर्व प्रजा समूढ[2] थी,
जिनेन्द्र का साज सुरेन्द्र-तुल्य था।

---

[1]अनुगामिनी। [2]एकत्रित।

(९६)

मनुष्य पीछे चल बातचीत में,
निमग्न थे सम्यक प्रेम-भाव मे,
तपोधनो के शुभ वृत्त सोचते,
लगे हुये आपस के विचार मे ।

(९७)

स-हर्ष वार्ता कह 'पार्श्वनाथ' की,
अजस्र चर्चा कर 'नेमिनाथ' की,
सुना रहे थे 'नमि-नाथ' की कथा,
बता रहे थे तप 'मल्लिनाथ' का ।

(९८)

प्रशंसते थे जप 'शान्तिनाथ' का,
सराहते भूरि 'अनन्तनाथ' को,
नृपाल 'श्रेयांस,' महीप 'पद्म' की
कही तपस्या 'ऋषभादि-देव' की ।

(९९)

विहाय वैराग्य न चित्त मे कभी
मनुष्य के निस्पृहता समा सकी,
पुरा[1] सुना है तप के प्रभाव से
विमुक्ति 'श्रीसभवनाथ' पा सके ।

---

[1]प्राचीन-काल में

(१००)

कुमार-तीर्थंकर 'वासुपूज्य' थे,
कुमार ही हैं प्रभु वर्द्धमान भी,
प्रसिद्ध भू में जिन-धर्म-अग्रणी
कुमार-संन्यस्त[1] अनेक देव हैं।

(१०१)

तुरन्त बीता पथ बातचीत में
समस्त[2] खंका-बन-मध्य आ गये
कुमार आसीन, विहाय पालकी,
हुये शिला पावन चंद्रकान्त पै।

(१०२)

विराग-संप्राप्त मुमुक्षु-भाव से
विलोक ईशान-मुखी कुमार को;
प्रशान्त कोलाहल, शान्त, चित्त हो
समस्त दीक्षा अवलोकने लगे।

(१०३)

कहे गये चौदह अंतरंग के
परिग्रहों को, दश बाह्य ख्यात जो,
विहाय आभूषण, वस्त्र, मालिका,
विशुद्ध बैठे मन-वाक्य-काय से;

---

[1]कुमारावस्था में ही संन्यास ग्रहण करनवाले। अथवा, राजकुमार जो सन्यासी हो गये। [2]समस्त प्राणी

(१०४)

प्रसिद्ध अट्ठाइस जो प्रधान है
गणावली, सो परिपालते हुये
तथैव आतापन-योग-जन्य जो-
स-हर्ष की स्वीकृत गुप्ति सो सभी।

(१०५)

सु-योनि[1] जो सर्वगुणानुवृत्ति की
विशिष्ट सामायिक सयम-क्रिया,
कुमार ने स्वीकृत की सभी तभी
समस्त-प्राणी-प्रति-साम्य-भाव से ।

(१०६)

प्रतप्त चामीकर[2] के समह-सी
कुमार की सर्व-शरीर-कान्ति थी,
महान शोभा प्रभु-अंग-अग की
विलोकती थी जनता समुत्सुका।

(१०७)

महा तपस्यामय-तेज-पुज से
ललाट-आभा अधिकाधिका बढी,
विमुक्ति का निश्चय दृष्टि-कोण से
मयूख-सा नि.सृत भासने लगा ।

---

[1]उत्पत्ति-स्थान। [2]सुवर्ण।

(१०८)

मनोज्ञ थी उन्नत-घोण[1] नासिका
गुलाब-से मंजु कपोल-युग्म पै,
यथैव चिंता-चिमि[2] आस्य-नीड से,
उड़ी, न होगी अब सो निर्वतिता ।

(१०९)

प्रसन्न था आनन ज्ञात-पुत्र का
सतोगुणाभास-समेत राजता;
सरोजिनी-के-पुष्प-दलानुकारि थे
मनोज्ञ दोनों श्रुति[3] कान्ति-राशि-से ।

(११०)

त्रिरेख-संयुक्त अनूप कंठ था,
महान-शोभा-मय कंबु-सा लसा;
अलग्न अद्यावधि[4] नारि-वक्ष से
सुपुष्ट था वक्ष-कपाट सोहता ।

(१११)

प्रलंब आजानु[5] भुजा विराजती,
मनोरमा कल्प-लता-समान ही,
अलक्त दोनो कर की हथेलियाँ
लसी हुई थी युग शोण[6]-द्रोण[7]-सी ।

---

[1]नाक की दीवार, जो बीच मे उठी हो । [2]शुक । [3]कान । [4]आजतक ।
[5]जानु तक लटकी हुई । [6]लाल । [7]पत्ते का दोना ।

(११२)

गंभीर-आवर्त[1]-समान शोभना
उदार-भावा उदरस्थ नाभि थी,
अतीव तन्वग[2] मृगेन्द्र-लंक-सा
नितान्त ही क्षाम[3] कटि-प्रदेश था।

(११३)

महान आश्चर्य्य ! कि नग्न जानुएं
जिन्हे न अद्यावधि[4] देख ही सकी,
उन्ही करो मे करि के मिलिन्द-सी
विलग्न-नेत्रा वह कामिनी हुई।

(११४)

समागता यो जनता समुत्सुका
विलोकती थी चरणाभिरामता,
निहारती ज्यो झप-झारि[5]कज को
पयस्विनी मे अनिमेप नेत्र से।

(११५)

विलोकते ही उदयाद्रि-शृग प
हुये दिनेशाभिमुखी सरोज ज्यो,
सभी नरो के परिबद्ध हस्त भी
हुये उसी भाँति जिनेन्द्र-संमुखी[6]।

---

[1]भौंर। [2]पतली। [3]पतला। [4]आजतक। [5]मछलियो का समूह।
[6]जिनेन्द्र के सम्मुख।

(११६)

बने सभी संस्तुति-लीन यों तभी
मनुष्य बोले कल कोटि कंठ से
"प्रभो! तुम्हारी जय हो, तुम्हीं, विभो!
धरित्रि-गामी[1] परमात्म-रूप हो।

(११७)

"मदादि-शत्रुंजय हो, जिनेन्द्र हो,
गुणाढ्य, रत्नाकर हो, सुरेन्द्र हो,
प्रभो! जगत्ताप-प्रशांत-कारिणी
त्वदीय दीक्षा जन-रक्षिका बने।

(११८)

"नमोस्तु ते, देह-सुखाति-निस्पृही
नमोस्तु ते मोक्ष-रमार्ध-विग्रही[2],
नमोस्तु ते हे अपरिग्रही,[3] प्रभो!
नमोस्तु ते भक्त-अनुग्रही, विभो!

(११९)

"अहो! अलंकार विहाय रत्न के
अनूप-रत्न-त्रय-भूपितांग हो,
तजे हुये अंबर अंग-अंग से,
दिगंबराकार विकार-शून्य हो।

[1]पृथ्वी पर चलने वाले। [2]मोक्ष-लक्ष्मी के पति। [3]असंग्रही।

(१२०)

"समीप ही जो पट देवदूष्य है,
नितान्त श्वेतांवर-सा वना रहा,
अ-ग्रंथ, निर्द्वन्द्व महान सयमी,
वने हुये हो जिन-धर्म के [1]ध्वजी।

(१२१)

"समेत हो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य के,
निकेत हो चार प्रकार ज्ञान के,
उपेत हो वीर! दया-क्षमादि से
प्रचेत[2] हो हे प्रभु! शुक्ल ध्यान के।

(१२२)

"नितान्त[3] हो इच्छुक आत्म-सौख्य के
निरीह कैसे तुमको कहें, प्रभो!
कि मोक्ष का है अनुराग, जो तुम्हे
न ज्ञात, कैसे तुम वीत-राग हो?

(१२३)

"प्रसिद्ध-रत्न-त्रय-संग्रही! तुम्हे
नितान्त निर्लोभ कहे, अयुक्त है।
त्रिलोक-राज्येश वने प्रयत्न से
न कीर्तिभागी तुम राज्य-त्याग के।

---

[1]ध्वजा वाले। [2]जानने वाले। [3]अथ व्याज-स्तुति।

(१२४)

"चला-चला बाण स्व-ब्रह्मचर्य्य के
अभर्तृका[1] काम-वधू बना दिया
अहो ! कृपा रंचक की न पाप पै
कुमार ! ऐसे करुणानिधान हो !

(१२५)

"सदैव आशा रख मोक्ष-प्राप्ति की
हुये यशस्वी 'अभिलाष-शून्य हो
तुरन्त त्यागा जब वंश-बंधु,[2] तो
कुमार ! कैसे तुम विश्व-बंधु हो ।

(१२६)

"विहाय भोगावलि सर्प-भोग[3]-सी
निपीत-पीयूष-विशुद्ध-ज्ञान हो,
प्रभो ! बताये यह जाइए हमें,
व्रती ! बने प्रोषध[4] के कि सत्य है ।"

(१२७)

प्रशान्त बैठे दृढ़ ग्राव-मूर्ति-से
नितान्त ही निश्चल-अंग ध्यान में,
उसी घड़ी ज्ञान हुआ कुमार को
अवश्य कैवल्य-अवाप्ति ध्येय है ।

---

[1]विधवा । [2]वंशके भाई लोग । [3]फन । [4]व्रत विशेष ।

(१२८)

निशेश था अर्यम[1]-ऋक्ष-योग में
मुहूर्त आया विजयाख्य था जभी
पवित्र-दीक्षा-दिन-अंत-याम में
हुये प्रतिज्ञा-परिवद्ध देव यों :—

(१२९)

"हुआ मुझे स्वीकृत साम्य आज से;
निवृत्त-सावद्य[2] चरित्र मैं हुआ;
प्रवृत्त हो सर्व-विराग-भाव में
किया करूंगा अव मोक्ष-साधना।"

(१३०)

दृढा प्रतिज्ञा कर ज्ञात-पुत्र यों
मुदा विदा लेकर ज्ञाति-बंधु से,
गये जहाँ थी ऋजु-वालिका नदी
समाज सारा अनुवर्तमान[3] था।

(१३१)

कुमार पीछे फिर देख एकदा,
स-प्रार्थना हो कर-बद्ध प्रेम से,
कहा सभी से, "प्रभु-प्रेम-पूर्ण हो
करो, सखे! लोचन वन्द ध्यान मे।"

---

[1]उत्तरा फाल्गुनी। [2]पाप रहित। [3]पीछे पीछे चलते हुये।

(१३२)

तभी सभी लोग निमीलिताक्ष हो
खड़े हुये एक मुहूर्त के लिए;
पुनः उघारे दृग तो न थे वहाँ
मुनीन्द्र-संपूजित साधु-अग्रणी।

(१३३)

जहाँ खड़े थे उस दिव्य भूमि पै
पड़ा हुआ कर्पट[1] देव-दूष्य था;
न ज्ञात था किन्तु किसी मनुष्य को
कुमार कैसे, किस ओर को गये।

[द्रुतविलंबित]

(१३४)

हित नखायुध[2] के गिरि-कंदरा,
विहग के हित नीड बने हुये,
पर महा जन-सेवक के लिए
स्व-गृह या पर-गेह कहीं नहीं।

---

[1]कपड़ा। [2]सिंह।

पंद्रहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

कुमार दीक्षा स्वयमेव ले चले
सभी जनों को प्रभु-भक्ति दे चले;
द्वितीय-प्रत्यूप-अलिन्द[1] में उन्हे
मिली मुदा कानन-कान्त-संपदा ।

(२)

निसर्ग का मदिर दिव्य रूप था,
वना किसीके कर से न जो कभी;
प्रकाश से सूर्य्य-निशेश-ऋक्ष के
सु-भव्य था, सुन्दर ज्योतिमान था ।

(३)

सु-भित्तियाँ अष्ट-दिशा-स्वरूपिणी,
मनोरमा थी छत अतरिक्ष की;
हरी-भरी घास-समेत भूमि पै
विछा हुआ विष्टर[2] था सुहावना ।

---

[1]दूसरे प्रभात का वरामदा । [2]गलीचा ।

(४)

प्रसन्नता-संयुत वृक्ष-मंडली;
चतुष्पदाक्रान्त[1] समस्त भूमि थी,
विमोहती थी विटप-स्थिता पिकी,
प्रवाहिता थीं नदियाँ सु-शब्दिता।

(५)

मनुष्य एकान्त-निवास में जभी
विवाह लेता प्रकृति-स्मिता-वधू
अवश्य सो संगम-काल में उसे
विमोहती है कह वैखरी[2] गिरा।

(६)

सुगन्ध लाती मृदु पत्र-पुष्प में
सुरंग देती भर है कुरंग में,
विचित्र नैसर्गिक शक्ति सो, कि जो
मनोज्ञ देती स्वर है विहंग को।

(७)

धरित्रि देखो, किस मातृ-भाव से
सुला रही पल्लव जो गिरे हुये,
वनेचरों[3] को निज अंक में लिये
प्रशान्ति देती बहु भाँति है उन्हें।

---

[1]जंगली जानवरों से भरी हुई। [2]कंठ-द्वारा उच्चारित। [3]जंगली जानवर।

(८)

निसर्ग के विस्तृत गुप्त ग्रंथ को
पढा जिन्होने नर वे महर्षि थे,
खुला जभी भेद, सुपर्व थे युवा,
वसुन्धरा थी युवती मनोहरा।

(९)

"शिला स-रत्ना, खनि-युक्त शैल भी,
न चाहिये योजन-गधिका[1] हमे;
निसर्ग! दे ज्ञान स्वकीय धर्म का,
धरित्रि मे ही सुख स्वर्ग्य प्राप्त हो।"

(१०)

विचार ऐसे करते हुये सुधी
वढे जभी तापस-वेश देश मे,
अनेक ग्रामों, नगरो, गृहो, वनो
पुरो, पथो मे चलते अजस्र थे।

(११)

न मंद थी और न तीव्र चाल थी,
न इष्ट कोई पथ था, न देश था,
समक्ष भिक्षा धरते स्पृही कही,
गृही कराते उपवास-पारणा।

---

[1]कस्तूरी।

(१२)

निमग्न ईर्या-पथ[1]-शुद्धि में हुये;
अभक्ष्य-भक्ष्यौदन के विचार में;
अशुद्ध भिक्षान्न कि शुद्ध है, इसे
विचारते ही व्रत देव ने लिया।

(१३)

"सदा रहूँगा कर-पात्र आज से
विधेय भिक्षार्थ न प्रार्थना मुझे,
स-मौन ध्यानस्थ मुझे अवश्य ही
अनिष्ट-संस्थान-निवास त्याज्य है।"

(१४)

अतः परे[2] देव सदा मृगेन्द्र-से
विभावरी में फिरते अभीत थे
श्मशान में निर्जन भूमि में तथा
असंग शैलाटन में प्रवृत्त थे।

(१५)

कभी नदी-कूल-समूढ रेणु में,
प्रचंड-मध्यान्ह-दिनेश-ताप में,
निदाघ के पूर्ण प्रतप्त काल में
निविष्ट होते प्रभु ज्ञान-मग्न थे।

---

[1]चार हाथ आगे देखकर चलना। [2]इसके अनन्तर।

(१६)

कभी किसी पर्वत-शृंग पै तथा
प्रचंड झंझानिल के झकोर मे,
स्व-देह पै कंवल धैर्य्य का धरे
बिता रहे प्रावृट् ध्यान-लीन थे।

(१७)

कभी सुधी भीषण शैत्य मे पडे
विलोक शीतर्तु क्षुप-प्रदाहिनी[1];
स्वकीय ध्यानानल मे प्रलिप्त हो
शयान होते वह रात्रि मे मुदा।

(१८)

निवाहते थे तप षष्ठ[2] भाँति के,
स-ज्ञान-कर्मेन्द्रिय जीतते हुये,
सदैव हो स्वस्थ, निलीन ध्यान मे,
अजस्र कर्म-क्षय-यत्नवान थे।

(१९)

प्रभाव मे आकर आत्म-ध्यान के
समस्त कर्मास्रव वन्द हो गये;
तपे यती द्वादश योग-ताप में
सु-दीर्घ-कालावधि यत्नवान हो।

---

[1]वृक्षो को जला देनेवाली। [2]दो दिन का उपवास।

(२०)

हुये क्षमा मे स्थिर भूमि-तुल्य ही,
प्रसन्नता निर्मल नीर-सी हुई,
कुकर्म के कानन के प्रदाह में
सुकर्म-ध्यायी ज्वलदग्नि[१]-तुल्य थे।

(२१)

क्षुधा-तृषा-भूत प्रभूत देह के
परीषहों को वह जीतते हुये;
चले स्व-निर्दिष्ट कठोर मार्ग में
महाव्रतों को परिपालते हुये।

(२२)

गुणावली उत्तर-मूल नाम की,
जिसे सुधी पालन में समर्थ थे,
बना रही धर्म-धुरीण थी उन्हें,
दिला रही थी सब सिद्धि-संपदा।

(२३)

न भीति थी तस्कर की न चौर की,
कदापि शंका सरि से न सिंधु से,
समान दोनों दिन-रात्रि थे उन्हें
न विश्व-वैषम्य-विभावना[२] रही।

---

[१]जलती हुई अग्नि। [२]धारणा।

(२४)

इसी दशा में प्रभु को शनैः शनैः
व्यतीत थे द्वादश वर्ष हो गये,
कि एकदा रात्रि-चतुर्थ-याम में
समस्त-जन्मान्तर-ज्ञान हो गया।

[द्रुतविलंबित]

(२५)

जिस प्रकार जलौक[1] तडाग में
प्रथम छोड़ द्वितीय तृणाग्र को,
पकड़के चलता अति शीघ्र है,
बस, यही गति है जग-जीव की।

[वंशस्थ]

(२६)

जिनेन्द्र के सचित पुण्य कर्म से,
महा तपस्या, व्रत, योग, धर्म से,
परीषहों के परिपूर्ण नाश से
समतत केवल्-ज्ञान-काश[2] से:

(२७)

सुवृत्त आये सब पूर्व जन्म के,
विचार छाये भव[3]-आदि-काल के,
प्रवृत्ति हो उन्नत उत्तरोत्तरा
विवृत्ति-सी प्रस्फुटमान हो गयी।

---

[1]जोंक। [2]प्रकाश। [3]जन्म।

(२८)

स्मृति-स्थिता पूर्व-कथा हुई उन्हें
पुरूरवा-नामक व्याध थे यदा,
मिली उन्हें उत्तम धर्म-बुद्धि थी
किसी तपस्वी मुनि धर्म-बुद्धि से।

(२९)

त्रिलोक-लक्ष्मी-प्रद धर्म ख्यात है,
विहीन जो है मधु-मद्य-मांस से,
उदुम्बरों के सब भाँति त्याग से
अवाप्त होता व्रत से सदैव जो।

(३०)

हुई वही उत्थित धर्म-भावना
पुरूरवा-जीवन धन्य हो गया;
तृषार्त को ज्यों अति ग्रीष्म-काल में
उपप्लुता[1] पुष्करिणी मिले कहीं।

(३१)

पुनः जगी सुस्मृति चित्त में कि वे
पुरूरवा से सुर-तुल्य हो गये;
सुपर्व[2] से आकर जीव-लोक में
प्रसिद्ध थे देव मरीचि नाम से।

---

[1]लबालब। [2]वैकुंठ।

(३२)

'मरीचि' के जीवन मे हुई उन्हे
महान इच्छा कि अवाप्त हो कही,
वरेण्य नेतृत्व समस्त विश्व का,
स्वकीय-सिद्धान्त-प्रचार-कार्य भी।

(३३)

पुन. जगी सुस्मृति, विप्र-वश मे
प्रसिद्ध जैसे वह 'पुष्य-मित्र' थे,
तभी किया चारु प्रचार विश्व मे
अपेल्य[1] सिद्धान्त प्रमाण सांख्य का।

(३४)

तदा हुये 'अग्निसहाख्य' विप्र वे
महा-परिव्राजक धर्म-अग्रणी,
पुन. हुये ब्राह्मण 'अग्निमित्र', जो
प्रसिद्ध मीमासक थे धरित्रि मे।

(३५)

पुन. किया चितन वीर ने कि वे
हुये 'भरद्वाज' निरुक्त[2]-विज्ञ थे,
परिश्रमी पंडित धर्म-शास्त्र के
प्रसिद्ध थे खडन मे अधर्म के।

---

[1]न हराये जाने वाले। [2]वेद की शाखा।

(३६)

पुन. हुआ ध्यान उन्हे कि वे सुधी
प्रसिद्ध थे 'स्थावर' नाम से कभी
स-वेद वेदांग स-शास्त्र धर्म के
महान् ज्ञाता द्विज पूज्य-पाद थे।

(३७)

तथैव आयी सुधि वीर देव को
कि 'विश्वनंदी'-सुत 'विश्व-भूति' के
महा प्रतापी बलवान विक्रमी
अजेय योद्धा जब वे प्रसिद्ध थे।

(३८)

पुनः हुये संसृति में प्रसिद्ध वे
'त्रिपिष्ठ नारायण' नाम से कभी
मिला उन्हें उत्तम चक्र-रत्न था,
प्रतीक[१] जो धर्म-प्रचार-कार्य का।

(३९)

विलोक होते निज आयु क्षीण वे
असार संसार विचार चित्त में,
विराग से साधु हुये, तथा गये,
स-क्रोध त्यागा तन, देव-लोक को।

---

[१]चिह्न।

(४०)

रहे कई जीवन भूमि-पाल वे
पुनश्च त्यागी निज देह मन्यु[1] में,
अत हुये कर्म-विपाक से तभी
प्रचंड पचानन उच्च अद्रि पै।

(४१)

पुन. हुआ ध्यान उन्हे कि पाप से
महान हिंसा-मय कर्म से तथा
मरे, हुये वीर पुन. मृगेन्द्र ही
समुच्च जम्बूमय सिद्ध-कूट पै।

(४२)

सुतीक्ष्ण थे दत, कराल मौलि से
मराल खाते वह एकदा मिले,
मुनीन्द्र मृत्युंजय को वनान्त में,
अत उन्हे शिक्षण साधु ने दिया.—

(४३)

"मृगेन्द्र! क्या तू निज पूर्व-जन्म मे
त्रिपिष्ठ नारायण नाम भूप था ?
समस्त भोगे भव-भोग, तृप्त हो,
व्यतीत सारे दिन सौख्य से किये।

---

[1]क्रोध।

(४४)

"नितंबिनी, सुन्दरि, मत्तकाशिनी
कुरंग-नेत्रा, वर-वर्णिनी तथा
वधू नतांगी, ललिता, तुझे मिली
विलासिनी, अचिभ्रुवा,[1] मनोहरा।

(४५)

"परन्तु तू जा विषयाब्धि में पड़ा,
न ध्यान हा हा! कुछ धर्म में दिया,
महान पापोदय से घिरा जभी
मरा, हुआ एक प्रसिद्ध नारकी।

(४६)

"कठोर पाये दुख, कृच्छ्र[2] कष्ट भी,
विषण्णता, क्लेश तथैव यातना,
महान हिंसा-प्रिय सिंह था, अतः
शरीर काटा बहु खण्डशः गया।

(४७)

"मृगेन्द्र-देही बन तीन जन्म यों
महान हिंसामय पाप भी किये,
न चेतना क्या अब भी तुझे हुई?
न ज्ञान आया, बहु खेद है मुझे।

---

[1]भौ ताने हुये। [2]कठिन।

(४८)

"मृगेन्द्र ! तू दुर्गति-नाश के लिए
अत. अभी ही तज क्रूर कर्म वे,
न जो दिलाते पद स्वर्ग का तुझे,
पुन. पुन यो भव-भार भोगता।

(४९)

"स्वकीय कल्याण-हितार्थ सिह तू
तजे सभी खाद्य अखाद्य शीघ्र ही;
अवश्य होगा दुख दूर अंत मे
तुझे मिलेगा वहु सौख्य, हे सखे!

(५०)

"मृगेन्द्र ! तेरे दश जन्म बीतते
महान होगा जन ज्ञानवान तू,
प्रसिद्ध तीर्थंकर वीर! कीर्ति के
समेत होगा धुर[1] धर्म-चक्र का।"

(५१)

सुने जभी वाक्य महा मुनीन्द्र के
मृगेन्द्र को, ध्यान हुआ स्व-जाति का,
शरीर काँपा, जल नेत्र से चला
तथैव रोमाच हुआ तुरन्त ही।

---

[1] धुरा।

(५२)

पुनः पुनः ध्यान दिला-दिला उसे,
समस्त वृत्तान्त सुना-सुना उसे,
मुनीन्द्र ने केवल-ज्ञान-वृक्ष के
उगा दिये अंकुर चित्त-क्षेत्र में।

(५३)

कहा, "न होगा, अब है, न हो गया,
सु-धर्म कोई इस विश्व-गर्भ मे
समान हो केवल-ज्ञान के, सखे !
त्रिलोक-संभूति-प्रदान जो करे।

(५४)

प्रभूत भू-भूतिद[1] जैन-धर्म है,
स्व-धर्म-संस्थापन पुण्य कर्म है,
न तुल्य कोई कृत धर्म-कर्म के,
न कृत्य कोई अतिरिक्त त्याग के।"

(५५)

मुनीन्द्र के वाक्य मृगेन्द्र के लिए
अघौघनाशी हितकारि यों हुये,
नखी[2] अहिंसा-व्रत पालता हुआ
द्युलोक[3] को अंतिम काल मे गया।

---

[1]संपत्ति देनेवाला। [2]सिंह। [3]स्वर्ग।

(५६)

पुनश्च हेम-प्रभ ग्राम में कही
कुमार हेमोज्ज्वल नाम से हुये,
सुखी, यथा-काल अधीत-शास्त्र हो
बड़े प्रतापी, बलवान भी, हुये।

(५७)

कुमार थे संस्थित एकदा किसी
महीध्र[1] के मंजुल तुंग-शृंग पै
इसी घड़ी एक मुनीन्द्र से सुखी
लगे मुदा धर्म-रहस्य पूछने।

(५८)

परिक्रमा दे मुनि को त्रिवार वे
विनीत हो दण्ड-प्रणाम आदि में
लगे नत-ग्रीव[2] कुमार पूछने
"कहो, मुने! गुप्त रहस्य धर्म का।"

(५९)

मुनीन्द्र बोले, "शुभ धर्म है वही
प्रसिद्ध निःश्रेयस[3]-प्राप्ति-हेतु जो
त्रिलोक-स्वामित्व-प्रदान-कार्य में
सदा रहे दक्ष अनन्य मित्र-सा।

---

[1]पहाड़। [2]नत ग्रीवा किये हुये। [3]मुक्ति।

(६०)

"दशांग श्रीमूल-गुणाढच धर्म को
निबाहना, इन्द्रिय-चौर जीतना;
तपस्विता निश्चय ही मनुष्य को
प्रकाम देती फल पूर्व-पुण्य का।

(६१)

"महान योद्धा मद-मोह-द्रोह हैं,
प्रहार तू सप्रति काम-क्रोध भी,
अभी तुझे यौवन-शक्ति-प्राप्त है
पुन. करेगा बन वृद्ध गृद्ध[1] क्या ?

(६२)

"प्रशान्त हो जो नव आयु में सुधी
यथार्थ ही शान्त उसे पुकारते,
विनष्ट होती जब सप्त धातुए
प्रशान्ति आती किस जीव मे नही ?"

(६३)

मुनीन्द्र के वाक्य सुने, कुमार भी
विचारने भूरि लगा स्व-चित्त में,
विमुक्ति-सपादन-दत्त-चित्त हो
लगा सुधी सम्यक धर्म-कर्म में।

---

[1]बुड्ढे गीध की भाँति।

(६४)

'विजित्य वाह्यान्तर दो प्रकार के
परिग्रहो को, अति शान्त भाव से
स्वकीय-मोक्षार्थ अरण्य-वास ले
स-धर्म दीक्षा द्रुत ली कुमार ने ।

(६५)

कुध्यान त्यागे युग, आर्द्र-रौद्र भी,
तुरन्त लेश्या' सव छोड दी मृपा
विहाय चारो विकथा कुमार ने
समस्त त्यागे भव-जाल अंत मे;

(६६)

अरण्य मे वास किया, प्रशान्त हो,
तथा तपस्या दश-दो' प्रकार की
प्रकाम की मूलगुणानुरक्त हो,
जिये हुये देव सहस्र वर्ष के ।

(६७)

पुन सुधी कोशल-देश मे हुये
प्रसिद्ध राजा हरिषेण नाम के,
महा यशस्वी, अति ओजवान हो
किया सु-सचालन धर्म-राज्य का ।

'जीतकर। 'कषाययुक्त प्रवृत्ति । 'वारह ।

(६८)

समेत सामायिक-प्रोषधादि के
निकेत धर्माचरणादि के बने;
नृपाल वे प्रासुक-दान-धर्म में
रमे रहे तीर्थ-प्रयाण में मुदा।

(६९)

मुनीन्द्र-योगीन्द्र तथैव केवली
नृपाल वे साधु-समाज संग ले,
व्यतीत यों ही करते सदैव थे
स्वधर्म-संलग्न समस्त काल भी।

(७०)

महान थे पंडित राजनीति के,
विशाल थे दान-प्रसक्त[१]-चित्त भी,
कदापि पाया रिपु ने न पीठ ही,
न अन्य योषा नृप-वक्ष छू सकी।

(७१)

नृपाल वे आर्त मनुष्य की सदा
विनाशते थे बहु ग्लानि यत्न से,
न शार्ङ्ग-धन्वा-धृत थे तथापि वे
मुकुन्द थे भू-पर युग्मबाहु के।

---

[१]संलग्न।

(७२)

स-काम-धर्मार्थ-विमुक्ति हेतु ही
सदा विताते निज काल धर्म में,
परन्तु सम्प्राप्त हुई जरा जभी
नृपाल कान्तार[1]-निविष्ट हो गये।

(७३)

नरेन्द्र हो दीक्षित जैन-धर्म मे,
विनाशते थे तप-वज्र-घात से
स्व-कर्म-शैलेन्द्र, स्व-धर्म-हेति से
संहारते इन्द्रिय-शत्रु-सैन्य थे।

(७४)

मृगेन्द्र-से पर्वत-कंदरादि मे
विहार यो ही करते अजस्र थे,
स-सर्प भू मे वह भीति-हीन हो
शयान होते, रत ज्ञान-ध्यान मे।

(७५)

तुषार-वर्षा-मय शीत-काल मे
स्व-ध्यान-ऊष्मा[2]-मय-योग-मग्न थे,
दवाग्नि-वर्षा-मय-ग्रीष्म-काल मे
स्व-ज्ञान-शैत्याश्रय-भोग-लग्न थे।

---

[1]वन। [2]गर्मी।

(७६)

व्यतीत आयुष्य इसी प्रकार से
हुआ; सहे उत्कट काय-क्लेश भी,
बना निराहार शरीर अंत मे
समाधि ले प्राण-विहीन हो गये ।

(७७)

पुनः लिया जन्म मरीचि-जीव ने
सुमित्र-नामा नृप के निवास में;
उसे सुशीला जननी मिली तथा
पुरी मिली सुन्दर पुडरीकिणी ।

(७८)

महान प्यारा प्रिय-मित्र नाम था,
प्रसिद्ध थी कीर्ति, विशुद्ध कान्ति भी,
शरीर-भूषा सुर-देह-तुल्य थी
समुच्च मेधा,[१] दिग-नाग-शक्ति थी ।

(७९)

कुमार आस्था[२] जिन-धर्म में बढ़ी
पढ़ी सभी भूपति-नीति प्रीति से,
मिला उसे था अधिकार राज्य का
युवा-अवस्था जब प्राप्त हो चुकी ।

---

[१]बुद्धि । [२]विश्वास ।

(८०)

अपार सेना अति-शक्ति-शालिनी,
चतुर्दिशा जीत नृपाल-मडली,
स-हर्ष लौटी निज देश को जभी
न चक्रवर्ती उस-सा रहा कही ।

(८१)

दशांग-भोगी प्रिय-मित्र को रही
न कामना किंचित अर्थ-काम की,
स्व-धर्म-द्वारा शुभ मुक्ति-साधना
सदैव थी श्रेय, सुकर्म ज्ञेय थे ।

(८२)

समुच्च देवालय भी वना सुधी
स-रत्न की स्थापित हेम-मूर्तियाँ;
स्व-गेह चैत्यालय मे स-भक्ति सो
सदैव पूजा करता नृपाल था।

(८३)

सदा रहा आगुक-दान-लीन सो,
नृपाल यात्रा करता स-भक्ति था,
कुटुम्ब-संयुक्त चरित्र ईश का
स्व-धर्म-गाथा सुनता स-प्रेम था ।

(८४)

कियेहुये कर्म सभी नृपाल सो
सदैव सामायिक से विनाशता,
स्व-धर्म का पालन दत्त-चित्त हो
मनीषि[1] ने सम्यक ज्ञान से किया ।

(८५)

पुन: किसी काल नृपाल सात्वकी
कुटुम्ब-संयुक्त सुपर्व पूजने
जिनेन्द्र-क्षेमंकर-वंदनार्थ सो
गया; सुना यों उपदेश धर्म का:—

(८६)

"विशाल साम्राज्य, महान सौख्य भी,
मनुष्य-द्वारा जित[2] संपदा सभी
अवश्य होते क्षय-प्राप्त अंत में
विनाश-प्रत्यंत समस्त विश्व है ।

(८७)

"न रोग से छूट, न मुक्ति क्लेश से,
न दुख से मोक्ष शरीरवान को;
न प्राणियों को सुख कर्म मे कभी;
मनुष्य का एक शरण्य[3] धर्म है।

---

[1]विद्वान । पंडित । [2]जीती हुई । [3]शरण-स्थान ।

(८८)

"अवाप्त रत्न-त्रय का वहित्र हो,
महा जगत्तप्त-पयोधि पार हो,
यहाँ अकेले करना प्रयत्न है,
न सग कोई सुत है, न नारि है।

(८९)

"शरीर को भी अपना न मान के,
सभी मलो की खनि देह जानके,
स्व-धर्म का पालन ही स्व-कर्म है
विकर्म है अर्थ, अकर्म काम है।

(९०)

"मनुष्य की देह-तरी तरत[1] है,
तथा सभी इन्द्रिय छिद्र-तुल्य है
जभी हुआ आस्रव[2] कर्म-नीर का
बचा नही जीवक कर्ण-धार भी।

(९१)

"अत. करो धर्म-प्रपत्ति मुक्तिदा,
सदा तपस्या-रत आयु दो बिता,
न केवली के उपदेश के बिना
मनुष्य कोई भव-मोक्ष पा सका।

---

[1]तैरती हुई। [2]आगम।

(९२)

"सुखीजनों की सुख-वृद्धि के लिये
दुखी नरों के दुख के विनाश को
जिनेन्द्र-सपादित धर्म-साधना
खुली हुयी है नव-रत्न-पण्य-[1]सी।

(९३)

"वही सुधी है, वह पूज्य विज्ञ है,
वही सुखी है, जग मे अधिज्ञ[2] है,
स्वकीय आत्मोन्नति-हेतु सर्वदा
जिनेन्द्र-पूजा करता स-भक्ति जो।"

(९४)

मुनीन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म की
स-प्रेम दीक्षा प्रियमित्र ने मुदा
हृदिस्थिता की; अति शान्त भाव से—
विराग से—पूर्ण प्रसन्न हो गया।

(९५)

प्रमाद से हीन हुआ व्रतस्थ सो,
तुरन्त की स्वीकृत भूमिपाल ने
गुणावली उत्तर-मूल की द्विधा,
निरोध[3] कर्मास्रव का किया तथा।

---

[1]बाज़ार। [2]ज्ञानी। [3]रोक। रोकना।

(९६)

सदा सुखी पर्वत-कंदरादि मे
विहार योगी करता प्रशान्त था,
जिनेन्द्र का धर्म-प्रभाव विश्व में
प्रचारता था अति भक्ति-भाव से।

(९७)

प्रपूर्ण था ही परमार्थ-ज्ञान से,
समस्त आहार विहाय अंत मे
स-हर्ष संन्यास लिया महीप ने
विशुद्ध योगी सब भाँति हो गये।

(९८)

विहाय बाईस परीषहादि भी
किया समाराधन चार भाँति का,
शरीर छोडा उस काल साधु ने
प्रकाम भोक्ता बन स्वर्ग्य सौख्य का।

(९९)

पुनश्च कालान्तर मे मरीचि की
विशुद्ध आत्मा च्युत भूमि मे हुई,
पुरा[1] प्रसिद्धा हरिषेण नाम' स
हुई समाख्यात कुमार नंद मे।

---

[1]पहले।

(१००)

कुमार धर्मी बन बाल्य-काल से
जिनेन्द्र-संपूजन-दत्त-चित्त था,
समस्त संस्कार स्व-धर्म के उसे
बना रहे थे अति धन्य विश्व में।

(१०१)

"मुदा गये नंदकुमार एकदा
सकाश में प्रोष्ठिल साधु के, जहाँ
सुनी दशांगा जिन-धर्म की कथा
पवित्र-आत्मा वह शीघ्र हो गये।

(१०२)

"उपद्रवी के प्रति भी न क्रोध हो
कही गई सो अति उत्तमा क्षमा,
कठोरता को सब भाँति त्यागना
द्वितीय है मार्दव[1] अंग धर्म का।

(१०३)

"सदा मनो-वाक्य-शरीर-जात[2] जो
महान कौटिल्य, उसे बिनाशना,
तृतीय है आर्जव अंग धर्म का
प्रसिद्ध जो साधु-समाज मे सदा।

---

[1]मृदुता। [2]उत्पन्न।

(१०४)

"चतुर्थ शोभामय सत्य अंग है,
असत्यता ही शुभ-धर्म-नाशिनी,
प्रसिद्ध है पंचम अंग शौच जो
पवित्रता-मंडित धर्म-तत्त्व है,

(१०५)

"सदा त्रस[1]-स्थावर-रूप विश्व में
समस्त-प्राणी-गण-रक्षणार्थ जो
किया गया पालन इन्द्रियार्थ हो,
प्रसिद्ध है संयम अंग धर्म का।

(१०६)

"पुनःतपस्या दश-दो प्रकार की
मनुष्य-द्वारा परिपालनीय है,
पुनश्च जो त्याग प्रशस्त ख्यात है
कहा गया सो शुभ अंग धर्म का।

(१०७)

"परिग्रहों को बहु भाँति त्यागना
कहा गया धर्म-अकिंचनाख्य है,
महान जो सौख्यद साधु-संत को
तथा बनाता भय-हीन भी उन्हें।

[1] गर्मी से डरकर सर्दी में और सर्दी से डरकर गर्मी में भागनेवाले जीव।

(१०८)

"पुनः सुनो, अंतिम अग धर्म का,
कहा गया उत्तम ब्रह्मचर्य्य है,
गृहस्थ[1] को भोग्य स्व-नारि ही सदा,
समस्त-नारी-गण साधु त्यागता।"

(१०९)

सुना जभी भूपति ने मुनीद्र से
महान आंदोलित-चित्त हो उठे,
विचारने वे सहसा लगे, अहो!
असारता-पूर्ण समस्त विश्व है।

(११०)

असार होता यह विश्व जो न, तो
इसे न तीर्थंकर देव त्यागते,
तृषा-बुभुक्षा-रुज[2]-काम-क्रोध की
दवाग्नि प्राणी-वन को न दाहती।

(१११)

मनुष्य का जो धन—धर्म—है, उसे
स्वतंत्र हो इन्द्रिय-चौर लूटते,
अभाव में या निज भाव में इसे
अजस्र ही है सब भोग भोगते।

---

[1]ब्रह्मचर्य्य का अर्थ है कि गृहस्थावस्था मे अपनी स्त्री के अतिरिक्त सभी स्त्रियो का त्याग तथा सन्यासावस्था मे सभी स्त्रियों का त्याग। [2]रोग।

(११२)

उठे इसी भाँति विचार चित्त में
महीप के, वे धृत-बुद्धि हो गये,
तुरन्त दीक्षा-गुरु साधु को बना
बने महात्मा जिन-धर्म-संयमी।

(११३)

स्व-चित्त में सत्वर सावधान हो
गुरूपदेशान्वित भूप ने तदा
समुद्र एकादश-अंग[1] शास्त्र का
सदा किया पार, कृतार्थ हो गये।

(११४)

महीप नाना व्रत में निमग्न हो,
शरीर को क्लेश अनेक भाँति दे,
मुनीन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म को
अनेकशः वे परिपालने लगे।

(११५)

स्व-धर्म में जो व्रत हैं कहे गये,
तथैव सारे तप-जाप ख्यात जो,
उन्हें सुधी सम्यक पालते हुए
रहे बिताते निज आयु सौख्य से।

---

[1]शास्त्र के ग्यारह-अंग।

(११६)

विहाय तृष्णा, बहु रौद्र ध्यान भी,
अपाय-संस्थान-विपाक आदि से
निमग्न हो सत्वर शुक्ल ध्यान मे
मुनीद्र का आस्पद[1] साधु ने लिया।

(११७)

सदैव मैत्री सब जीव-लोक से,
विलीन हो दर्शन-शुद्धि मे मुदा,
विचारता षष्ठ-दशाख्य[2] भावना
विनाशता विंशति-पंच दोष था।

(११८)

प्रशान्त हो त्रैविध मूढ़ता[3] तजी,
विहाय सो अष्ट-मदादि सर्वथा,
शरीर से विंशति-पंच मैल भी
निकाल फेंका, मन स्वच्छ हो गया।

(११९)

स-भक्ति-संवेग-विराग आदि से
विहीन, तीर्थंकर की उपाधि की
प्रसिद्ध जो है प्रथमा दशा, उसे
स-हर्ष उत्तीर्ण किया मुनीन्द्र ने।

---

[1]पद, पदवी। [2]सोलह। [3]देव मूढता लोक मूढता और गुरु मूढता।

(१२०)

स-हर्ष अष्टादश शील पालते,
अजस्र हो पंच-व्रतस्थ सात्वकी,
सु-ग्रंथ जो ज्ञापक[1] अंग पूर्व के
सदा पढाता वह शिष्य-वृन्द को।

(१२१)

समत्व, व्युत्सर्ग, त्रिकाल-वंदना—
अतिक्रम ख्यात अवश्य पाप जो,
स्तुति प्रतिख्यात छहो सुकर्म भी
निबाहता था वह साधु यत्न से।

(१२२)

अभीति देता सब जीव-लोक को,
सु-ज्ञान देता सब साधु-वृन्द को,
सदैव आध्यात्मिक-सौख्य-दान से
मुनीन्द्र सेवा करता स-हर्ष था।

(१२३)

चतुर्विधाराधन से मुनीन्द्र ने
तजा समाहार[2] व्रताधिकार से,
स्वकीय आयुष्य समाप्त जान के
चला गया नंदकुमार स्वर्ग को।

---

[1]बतानेवाला। [2]भोजन।

(१२४)

हुआ सुधी अच्यत-इन्द्र स्वर्ग में
युवा-शरीरी अति ओज-युक्त सो
स-रत्न था वक्ष, स-वस्त्र देह थी,
स-तेज था भाल, स-कान्ति रूप था ।

(१२५)

स-रत्न उत्पाद-शिला[1] मिली उसे,
स-हर्ष बैठा जिस पै महासुधी,
चतुर्दिशा दी निज दृष्टि देव ने,
स-मोद साश्चर्य्य विलोकने लगा ।

(१२६)

विमान देखे द्युतिमान धाम थे,
स-हर्ष वृन्दारक-वृन्द भी लखे,
मुनीन्द्र साश्चर्य्य विचारने लगा :—
"अहो, महा पुण्य-प्रताप धर्म का ।

(१२७)

"अहो, अहो, मै अति पुण्यवान हूँ,
महान सौख्य-प्रद दिव्यभूमि है,
मनोज्ञ सेना यह सप्त भाँति की !
मनोज-सेना[2] यह कोटि भाँति की !

---

[1]जहाँ देव उत्पन्न होते हैं । [2]अप्सरा-समूह ।

(१२८)

"चतुर्दिशा मे अरुण-प्रिया शची,
असंख्य विद्याधर वर्तमान है,
सभा सुधर्मा अति ही विशाल है,
म-विश्वकर्मा सुर हैं विराजते ।

(१२९)

"प्रतीत होते सव शुद्ध-चित्त हैं,
विनीत हैं, सुन्दर हैं, प्रसन्न हैं,
समस्त-संपत्ति-निकेत में मुझे
बुला विठाया किस देव-दूत ने ?"

(१३०)

मुनीन्द्र संदेहमयी प्रवृत्ति से
विचारता ही क्षण एक यों रहा,
कि देव-मत्री कर-वद्ध आ वहाँ
लगा वताने अति दिव्य वृत्त यों :—

(१३१)

"अहो ! प्रभो ! संप्रति धन्य हो गये,
हुये फलीभूत प्रयत्न आपके,
स्व-जन्म पाया इस स्वर्ग में कि जो
दिवान[1]-चूडामणि अच्युताख्य है ।

---

[1]स्वर्ग ।

(१३२)

"यहाँ मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त है,
अवाप्त है इन्द्रिय-सौख्य सर्वदा;
विशुद्ध है कामदुघा[1] गरीयसी
समक्ष चिन्तामणि, कल्पवृक्ष है।

(१३३)

"प्रमोद-दात्री ऋतुएँ समस्त है,
प्रशान्ति देता शुभ काल सर्वदा,
न भेद होता दिन-रात मे यहाँ,
विराजता रत्न-प्रकाश सर्वदा।

(१३४)

"न दीन, दुःखी, न अधीन, निर्गुणी,
कु-भाग्य, रोगी, जन कान्ति-हीन भी,
जिनालयों मे प्रति-याम हर्ष से
प्रसन्न पूजा करते सुपर्व[2] है।

(१३५)

"विलोकिये, देव-विमान सर्वशः,
असंख्य सामानिक देव है यहाँ;
अनन्त सेना यह आत्म-रक्षिणी,
इतस्ततः प्रस्तुत देव-पाल हैं।

---

[1]कामधेनु। [2]देवता।

(१३६)

"स-विक्रिया-ज्ञान अनेक देवियाँ
सुपर्व सारे भवदीय दास है,
समृद्धि का भोग समक्ष आपके
स्व-धर्म-कर्माश्रित स्वर्ग-सौख्य है।"

(१३७)

सुने सुरामात्य[1]-प्रदिष्ट वाक्य यो,
हुआ उन्हे ध्यान स्व-पूर्व-जन्म का,
कि नंद-नामा मुनि थे, स्व-धर्म के
प्रभाव से है अब स्वर्ग-लोक मे।

(१३८)

समस्त आख्यानक जन्म-जन्म के,
स्व-जीव की उन्नति उत्तरोत्तरा,
हुई उन्हे ज्ञात, प्रसन्न हो उठे
जिनेन्द्र-धर्म-ध्वज रोम-रोम से।

(१३९)

तभी विलोकी निज दैहिकी[2] प्रभा,
समुच्च थी उन्नति तीन हाथ की,
न स्वेद था, देह मलादि-हीन थी
निमेष से रिक्त[3] प्रसन्न नेत्र थे।

---

[1]इन्द्र का मत्री। [2]देह-सबधिनी। [3]शून्य।

(१४०)

पदार्थ जो नारक-षष्ठ-भूमि के
हुये उन्हे ज्ञात स्वभावत. सभी,
स-विक्रिया-ऋद्धि-प्रभाव सात्वकी
समुद्र-द्वाविंशति[1] आयु पा सके ।

(१४१)

सदैव जो नि.सृत ब्रह्म-रन्ध्र से
सुभोज्य पीयूष उन्हे अवाप्त था;
तथैव एकादश-मास-चारिणी
सुगंध-नि.श्वास उन्हें मिली तभी ।

(१४२)

निदान इच्छा यह एकदा उठी
कि प्राप्त हो केवल-ज्ञान भी उन्हे,
स-नाथ हों आर्त मनुष्य विश्व के;
अत' चले वे फिर जीव-लोक को ।

[द्रुतविलंबित]

(१४३)

इस प्रकार सभी भव पूर्व के
स्मृत हुये तप के सु-प्रभाव से,
गगन मे सुर यो कहने लगे,
समय आगत जान विमोक्ष[2] का ।

---

[1]बाईस सागर । [2]स्वर्ग से छुटकारा ।

(१४४)

जगत मे अवतीर्ण हुए तथा
कर तपादिक से क्षय कर्म का
प्रभु बने अब केवल-ज्ञान के
उचित पात्र[1], न संशय लेश है ।

[वंशस्थ]

(१४५)

सुरेन्द्र के संसद[2] मे अनेकश
सुपर्व चर्चा करने लगे तभी
हुई तपस्या परिपूर्ण लोक मे,
न आर्य्य क्यो सिद्धशिलाधिरूढ हो ।

(१४६)

व्रतोपवासादिक से, तपादि से
मिला दिया पार्थिव-अंश धूलि मे,
यतीन्द्र निर्धूम हिरण्यरेत[3]-से
प्रकाशते है अब जीव-लोक मे ।

(१४७)

शरीर मे तप्त-सुवर्ण-कान्ति है,
पवित्र आत्मा अविमिश्र[4] ज्योति है,
त्रयोदशाब्दा उनकी तपस्विता
प्रकाशती केवल-ज्ञान-योग्यता ।

---

[1]अधिकारी । [2]सभा । [3]स्वर्ण । [4]खालिस ।

(१४८)

समस्त कर्म-क्षय के प्रभाव से
यतीन्द्र संसिद्धि-अवाप्ति-योग्य हैं,
अतः उन्हें क्यों पदवी मिले न जो
पुरा त्रयोविंशति[1] देव को मिली।

(१४९)

सुरेन्द्र-प्रस्ताव सुना रतीश ने
कहा कि "कामेश्वर नामधेय[2] मैं,
बिना परीक्षा जिन-देव की लिये
न युक्त सिद्धासन-दान है उन्हें।"

(१५०)

कहा सुरो ने "प्रभु कामदेव हैं,
महान पुष्पायुध विश्वख्यात हैं,
अतः परीक्षा कर ले यतीन्द्र की
कदापि आपत्ति हमे न, नाथ, है।

(१५१)

"यतीन्द्र है अस्थिक-ग्राम-कूल में
कही वही एक विशाल चैत्य भी,
सु-कर्म से प्रेरित आज रात्रि मे
निवास लेंगे उस देव-धाम में।

---

[1]तेईस तीर्थंकर। [2]नाम।

(१५२)

"परीषहो को तृण-तुल्य मान के
कदापि चिंता जिसने न की, प्रभो !
सभी परीक्षा कर पार जो चुका
उसे नही है अब त्रास त्रास से।

(१५३)

"विलोकिये आप, इसी सुरौक[1] मे
सुपर्व कोई न किरीटवान, जो
धरित्रि मे दुर्भर भारवान हो
रहा नही, दु:ख सहा नही तथा।"

(१५४)

चला जभी देव सुरेन्द्र-लोक से
यतीन्द्र भी अस्थिक-ग्राम मे धँसे
जहाँ खड़ा मंदिर एक शून्य था
महेश का, जो कि भयद[2] ख्यात था।

(१५५)

निशा-निवासार्थ निदेश आर्य्य ने
विनम्र माँगा पुर-वासि-वृन्द से,
परन्तु वे सादर बोलने लगे, —
"यहाँ न स्वामिन् ! रहना विधेय है।

---

[1]बैकुंठ। [2]भयकारी।

(१५६)

"न देव साधारण शूल-पाणि है,
थमा यहाँ सो कुशली रहा नही,
पधारते वासर मे यहाँ सभी,
न रात्रि आते रुकते कदापि है।

(१५७)

"रुके यती वातुल[1] हो गये, मरे,
पुनः न लौटे, यह चैत्य है वही;
पधारिये, अन्य निवास ढूँढ़िये,
यहाँ बिताना रजनी निषिद्ध है।"

(१५८)

परन्तु बोले दृढ-चित्त आर्य्य यो
"न आप चिंता कुछ भी करें, सखे!
मुझे यहाँ केवल एक रात्रि को
निवास-आज्ञा भवदीय चाहिये।

(१५९)

स्वकर्मसत्ता-वश भाड मे पडू,
बना रहेगा वह साथ-साथ ही,
अतः परीक्षा-भय से विभीत हो
न वीर प्राणी तजता स्व-धर्म है।"

---

[1]पागल।

(१६०)

प्रदोष आया, सब पौर जा चुके
परन्तु ज्ञानेच्छु बने रहे वही
निशीथ में आकर पुष्प-वाण ने
प्रगाढ ध्यानस्थ यतीन्द्र को लखा।

(१६१)

कहा गणों से रतिनाथ ने तभी
कि शीघ्र ध्यान-च्युत आर्य्य को करे,
स-वेग शृंगी-रिटि-नन्दि-तुन्दि' ने
प्रयत्न नाना विधि के किये सभी।

(१६२)

उठा-उठा के पटका धरित्रि में,
यतीन्द्र को कंदुक ही बना दिया,
परन्तु वे मीलित-नेत्र ही रहे
न ध्यान टूटा, न हिले-डुले कही।

(१६३)

दयार्द्र हो, काम कृपालु सर्वथा
विलोक बोला, "अब छोड़ दो इन्हे,
यतीन्द्र है, अतिम जाँच हो चुकी,
हुये समुत्तीर्ण, न त्रास-योग्य है।

'शंकर जी के गणों के नाम।

(१६४)

सरोज-अंतर्गत मंजु वारि ले
स्त्र-मंत्र ज्यों ही छिड़का रतीश ने,
यतीन्द्र ने लोचन खोल के लखा
समक्ष कामेश्वर पुष्प-चाप को ।

(१६५)

ललाट मे दीप्ति प्रशसनीय थी,
मुखाब्ज में सुस्मिति, चाप पाणि में,
मनोज्ञ मौर्वी जिसमे मिलिन्द की
कटाक्ष-वाणावलि-युक्त सोहती ।

(१६६)

लसा शिरोभूषण चंद्रकान्त का,
वसंत-शोभा-मय अंग-राग था;
विलोचनो मे विजयाभिरामता
प्रतीत थी श्याम-सरोरुहाक्ष[1] के।

(१६७)

रतीश बोला, "अब मै प्रसन्न हूँ,
अभेद्य विश्वास हुआ मुझे कि तू
विनष्ट-कर्मास्त्रव सर्वथा तथा
अछेद्य संगी शुभ शुक्ल ध्यान का ।

---

[1]शकर ।

(१६८)

"अत. करेगा अब तू निरूपणा
कि द्वादशांगा गति गूढ ज्ञान की;
चरित्र मे सर्व-विराग धर्म की
निदेशना[1] ही तव मुख्य कार्य्य है।

(१६९)

"चतुर्विधा सेवित सघ-शक्ति से
चतुर्दशा-देव-निकाय[2]-सेव्य है,
अवश्य ही केवल-ज्ञान-युक्त हो
मुदा करेगा भव-सिधु पार तू।

(१७०)

"त्रिलोक मे निर्मल-कीर्ति-युक्त तू
प्रचार देगा जिन-धर्म-देशना
वृथा न होगे मम वाक्य हे व्रती,
अवश्य होगा व्रत पूर्ण अन्त मे।"

(१७१)

चला गया काम, समाज सग ले
परन्तु डोले न यतीन्द्र ठौर से,
वरंच सिद्धासन बैठ शान्ति से
पुन हुये लीन प्रगाढ ध्यान मे।

---

[1]आज्ञा। [2]शरीर।

[द्रुतविलंबित]

(१७२)

मनुज जो दृढ निश्चयवान है,
वह नही हटता निज ध्येय से,
जिस प्रकार पतंग[1] प्रदीप के
निकट ही तजता निज प्राण है।

[वंशस्थ]

(१७३)

कठोर चर्य्या उपवास आदि से
व्यतीत यो बारह वर्ष हो गये,
पुनः चले वे द्रुत वात-चक्र[2] से
सुधी घुमाते निज धर्म की धुरी।

(१७४)

हिमाद्रि-माला कर विद्ध जान्हवी
प्रवाहिता भू-तल मे हुई यथा,
तथा परीक्षा-परिखा[3]-विलंघिनी
यतीन्द्र-यात्रा महि-भासुरा[4] चली।

(१७५)

सहस्र-सूर्य्योदय की प्रभा भरी
ललाट में थी उनके प्रकाशती,
विलोकते ही नर मुह्यमान की
विमोह-यामा हटती न क्यो भला ?

---

[1]कीट। [2]बगूला। [3]खाँई। [4]प्रकाशित करनेवाली।

(१७६)

यतीन्द्र चपा-पुर ओर को चले
अदीर्घ स्रोती[1] पथ मे पड़ी उन्हे,
अनेक लघ्वी पद-दडिका[2] जहाँ
मिली हुई थी पुर के समीप ही।

(१७७)

अदूर आगे कुछ उच्च भूमि थी,
लगे हुये थे क्षुप अर्क के जहाँ
जटाल[3] शाखी अतिकाय, मध्य मे,
स्वकीय छाया करता प्रदान था।

(१७८)

प्रकीर्ण थी विस्तृत वालुका वही,
लवे जहाँ पै दिन-रात लोटते,
कभी-कभी तीतर के समूह भी
वना रहे विप्कृत[4] रेणु-पुंज थे।

(१७९)

जटाल शाखी पर पक्षि-वृन्द का
सुदूर से ही वहु-श्रव्य श्राव[5] था,
उसी फली[6] के कुछ दूर पूर्व मे
प्रसिद्ध था मदिर पूर्णभद्र का।

---

[1]नदी। [2]पगडडी। [3]वरगद। [4]विखरे हुए। [5]शब्द। [6]वृक्ष।

(१८०)

बनी हुई आयत बावली जहाँ,
विराम देती कर-पात्र को सदा,
यतीन्द्र भी आगत-काल-लब्धि से
गये उसी आश्रम-मध्य एकदा।

(१८१)

सुधी निराहार व्रतोपवास मे
लगे बिताने दिन ध्यान-मग्न हो,
व्यतीत वर्षा-ऋतु हो गयी वही
हुई पुनः सर्व-दिशा सुनिर्मला।

(१८२)

यतीन्द्र ने पारण-काल जान के
प्रवेश चम्पापुर में किया तभी,
न ग्राम मे वे पहुंचे सु-दूर थे
कि एक दासी पथ मे मिली उन्हे।

(१८३)

लिये हुये कोदव-भक्त[1] हस्त मे
शराव मे मुद्ग[2]-तुषा रँधी हुई,
स-भक्ति आयी प्रभु के समीप सो
स्व-स्वामिनी-दंडित चंदना[3] सती।

---

[1]कदन्न, कोदो का भात। [2]मूंग। [3]यह चदना-चरित्र प्राची ग्रंथों से कुछ भिन्न है कवयः निरंकुशाः।

(१८४)

कभी रही सुन्दर राज-कन्यका
अरण्य-क्रीड़ा करती छली गयी,
जहाँ किसी कामुक[1] यक्ष ने उसे
कुवासनासे निज साथ ले लिया।

(१८५)

परन्तु आधे पथ मे तजा उसे
स्वकीय-पत्नी-भय-भीत जार ने
अरण्य मे पाकर एक भील ने
धनार्थ बेचा पुर मे सुभीरु[2] को।

(१८६)

सतीत्वपूर्णा वह क्रीत-सेविका
प्रविष्ट अन्तःपुर मे धनाढ्य के
"बनी स-पत्नी[3] यदि सुन्दरी कही
नही कही की गृह-स्वामिनी रही।"

(१८७)

वितर्क-भीता गृह-स्वामिनी हुई,
बना दिया रूप-विरूप यो उसे
कि केश सारे मुँडवा दिये, तथा
बँधा दिया दे पद-मध्य शृंखला।

---

[1]कामी। [2]स्त्री। [3]सौत।

(१८८)

कदन्न[1] दे दे उस राज-पुत्रि को
पिशाचिनी-सी उसको बना दिया,
परन्तु सो उच्च-कुलोद्भवा सती
परीषहों को सहती चली गयी।

(१८९)

अधौत[2]-वस्त्रा, अमिता अशासिता,
अशौच-देहा, अभगा, अमानिता
अदर्शनीया, अनलंकृता, अ-भा[3],
अभागिनी थी अबला अमानुषी।

(१९०)

परन्तु तो भी निज-मातृ-दीक्षिता,
अजस्र ही पंच-नमस्क्रिया-युता,
जिनेन्द्र-पादावनता सदैव सो
निहारती थी पथ देव-देव का।

(१९१)

प्रविष्ट चम्पापुर मे हुये यती
तुरन्त फैला शुभ वृत्त ग्राम मे,
कि चंदना बंधन-हीन हो गई
अलंकृता, सुन्दरि, राजपुत्रिका।

---

[1]बुरा अन्न। [2]बिना धुला। [3]बिना शोभा की।

(१९२)

शराव था मृण्मय[1] हैम[2] हो गया
कदन्न पक्वान्न हुआ तुरन्त ही,
यतीन्द्र ने की उपवास-पारणा
बनी शुभा चंदन-तुल्य चदना।

(१९३)

सुनी जभी अद्भुत बात, पौर आ
स-भक्ति पूजा करने लगे सभी,
निवेदना की कर-बद्ध, "धन्य हो,
प्रभो ! हमें भी उपदेश-दान हो।

(१९४)

स-तर्क देखी सब ओर आर्य्य ने
प्रवृत्ति सासारिक पौर-वृन्द की,
विलोक वे मानव-चित्त-वृत्तियाँ
लगे सुनाने हित-वाक्य सर्वथा।

[द्रुतविलंबित]

(१९५)

अगद[3] जो रुज[4] के उपयुक्त हो
चतुर वैद्य वही करता सदा,
निपट ग्राम्यक,[5] सामय[6] के लिए
लशुन ही मृग-मेद[7]-समान है।

---

[1]मिट्टी का। [2]स्वर्ण का। [3]औषध। [4]रोग। [5]ग्रामीण। [6]रोगी। [7]कस्तूरी।

[वंशस्थ]

(१९६)

यतीन्द्र-संसिद्धि विलोक नेत्र से
हुये वहाँ जो समवेत[1] लोग थे,
स्वकीय गाथा कह देह-गेह की
उपाय सारे जन पूछने लगे।

(१९७)

किसान बोला, "अति ही दरिद्र हूँ
समृद्धि कैसे मुझको अवाप्त हो;"
अहीर बोला, "दश वर्ष से, प्रभो!
महान हूँ पीड़ित वात-रोग से।"

(१९८)

कहार बोला, "मम भ्रातृ-पुत्र को
सता रहा प्रेत अनेक वर्ष से;"
कुम्हार बोला, "प्रभु! तीन साल से
सुदीर्घ फूली पड नेत्र में गयी।"

(१९९)

चमार ने लाकर एक कूबड़ी
कहा "भतीजी यह आपकी, प्रभो!
हुई परित्यक्त स्वकीय स्वामि से
प्रसाद दें, कूबड़ ठीक हो अभी।"

---

[1] इकट्ठा।

(२००)

कुलीन कोई कर-बद्ध हो खड़ा,
कहा, "चले आप मदीय[1] गेह में,
हुई पतोहू गृह के अयोग्य है
पिशाच-बाधा जब से लगी उसे।"

(२०१)

कहा किसी ने, "जल फूंक दीजिए,"
कहा किसी ने, "मुझको विभूति[2] दो,"
यतीन्द्र बातें सुन पौर-वृन्द की
खड़े-खड़े ही हँसते रहे वहीं।

(२०२)

तुरन्त एका ललना अपुत्रिका
पड़ी पदों पै सुत याचती हुई,
विनीत बोली अपरा यतीन्द्र से
"उपाय कोई कृपया बताइए।"

(२०३)

विलोक आती अधिकाधिका, तथा
समूढ होती जनता समुत्सुका,
चले वहाँ से द्रुत त्याग ग्राम को
तुरन्त ही देव परोक्ष हो गये।

---

[1]मेरे। [2]राख।

[द्रुतविलंबित]

(२०४)

वन किसी सुर की प्रिय क्रोड[1] में
विरमते शिशु की मुसकान-सी
मृदु हंसी अमिताभ[2] यतींद्र की
वह न भूल सकी जनता कभी।

---

[1]गोद। [2]अत्यन्त शोभावाले।

सोलहवाँ सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

परीषहो के विषमोपसर्ग को
प्रहारते वीर त्रयोदशाब्द यो,
रहे तपोध्यान-निमग्न, अंत में
गये जहाँ थी शुभ जृंभिका पुरी।

(२)

समीप ही उन्नत शाल-वृक्ष था,
विशाल देवालय भी विराजता,
प्रवाहिता दक्षिण-ओर, पास ही
मनोहरा थी ऋजुवालिका नदी।

(३)

यही नदी है, जिसके समीप मे
कुमार ने जीवन प्राप्त था किया,
इसी नदी के उपकूल[1] मे कभी
हुये स्वयं-दीक्षित थे बुधाग्रणी[2]।

---

[1]तीर। [2]पंडितो में अग्रगण्य।

(४)

इसी नदी के उपकंठ[1] मे कभी
खुला उन्हे जीवन का रहस्य था;
इसी नदी के तट मे नितान्त ही
हुआ उन्हे निश्चय काल-धर्म का।

(५)

वही नदी तुग-तरंगिता वनी
प्रगाढ़-आवर्तिनि सिधु-चारिणी
चलो चले, भेद लखे समीप से
जहाँ शिला है शुभ शाल के तले।

(६)

शनै. शनै: है भगवान आ रहे,
कठोर-चर्य्या-तप-साधना किये,
महा विजेता मद-मान-मन्यु[2] के,
निधान आदर्श व्रतोपवास के।

(७)

कषाय के सर्व-प्रकार ह्रास से
उन्हे क्षमा-आर्जव-तोष प्राप्त है,
शरीर मे आत्मिक-शक्ति-वृद्धि से
दया तथा मार्दव पूर्ण व्याप्त है।

---

[1]समीप। [2]क्रोध।

(८)

ललाट में एक अनूप ज्योति है
प्रसन्नता आनन में विराजती
मनोज्ञता शोभित अंग-अंग में
पवित्रता है पद-पद्म चूमती।

(९)

सभी हवाएँ जिनके प्रणाम के
लिए चली भू पर लोटती हुई,
सभी दिशाएँ जिनके शरीर को
किये समाच्छन्न प्रसन्न हो रही।

(१०)

प्रभात में भी कुछ आज और ही
प्रभा भरी है अति मोद-दायिनी
समीर का शीतल चित्त हो रहा
चतुर्दिशा यद्यपि ग्रीष्म-काल है।

(११)

कुरंग ऐसी भरते छलाँग हैं
कि सर्वथा मुक्त किरात-बाण से,
पवित्रकी[1] से विनिमुक्त सर्वश
तडाग में मीन प्रसन्न-चित्त है।

---

[1]मछली पकडने का जाल।

(१२)

शकुन्त[1] बैठे भय-मुक्त वृक्ष पै
कलोलते है, मृदु बोल बोलते ।
किरी[2]-शशा-वस्त[3] समस्त भूमि में
प्रसन्न, आनंदित, मोद-युक्त है ।

(१३)

चढ़े शिला पै जिस काल वे सुधी
प्रवेग झंझानिल का न था कही
गिरा अनायास बिना प्रहार के
सु-दूर टूटा द्रुम एक ताल का ।

(१४)

प्रशान्त सिद्धासन को लगा सुधी
हुये समासीन विशुद्ध भाव से,
अभीत बैठा पिक वाम अंघ्रि[4] पै
मराल भी दक्षिण जानु पै लसा ।

(१५)

नदी-किनारे चरता स-हर्ष जो
समीप आया वह धेनु-वृन्द भी,
सरोज-तीरस्थ तड़ाग के उन्हें
विहाय वारेश विलोकने लगे ।

---

[1]पक्षी । [2]सुअर । [3]भेड । [4]जघा ।

(१६)

जिनेन्द्र के उन्नत बाहु-मूल पै
गिरे तभी दो स्रग[1] अंतरिक्ष से
परन्तु वे एक तटस्थ[2] भाव से
प्रगाढ़ ब्रह्मासन ही बने रहे।

(१७)

जिनेन्द्र यों तो असहाय-से लसे
निरस्त्र, निष्कंचुक[3], यान-हीन ही।
परन्तु तो भी वह कर्म-शत्रु से
कराल आयोधन[4] में समर्थ थे।

(१८)

अभेद्य सन्नाह सहस्र शील का,
निचोल भी कोटि गुणानुभाव का,
सवार संवेग-गजेन्द्र पै हुये
जिनेन्द्र थे प्रस्तुत सम्प्रहार[5] को।

(१९)

विशाल चारित्र्य अनीक-वप्र[6] था,
महान रत्न-त्रय के कलब[7] थे,
कराल कोदण्ड व्रतोपवास का
उन्हें बनाता अरि से अजेय था।

---

[1]माला। [2]उदासीन। [3]बिन बख्तर। [4]युद्ध। [5]युद्ध। [6]टीला या मैदान। [7]बाण।

(२०)

अनीकिनी[1] थी वहु गुप्ति आदि की,
स्वयं महा सैनप कर्म-संक्षयी,
समक्ष था कर्म अमित्र, सिद्धि का
मुहूर्त आया अभिसन्निपात[2] का।

(२१)

दिनेश मे एक विकंप आगया,
समीर मे एक प्रकंप हो गया,
तड़ाग के पंकज वेपमान[3] थे
पयस्विनी का जल कॉंपने लगा।

(२२)

शरीर की रक्त-प्रवाहिनी शिरा
समस्त निध्मात[4] हुई तुरन्त ही
जिनेन्द्र की लोचन पुत्तली खुली,
स-वेग घूमी, फिर बन्द हो गयी।

(२३)

अचेष्ट है ओष्ठ, अचेत है त्वचा,
अहो, अहो ! क्या यह अंत-काल है ?
पिशंग[5]-रंगा बन सिंहिनी-समा
कि मृत्यु ने ली प्रभु पै उछाल है।

---

[1]सेना। [2]आक्रमण। [3]कपमान। [4]बजी। [5]पीली।

(२४)

कि योग-निद्रा मधु के प्रभात-सी
अभूत भा[1]-भूपित कोप-वद्ध हो,
शनै शनै श्वास-प्रवाह ले रही
भवाब्धि के स्तभित वीचि-पुज पै ।

(२५)

विलोकते हृद्-गति के विना जिसे
न है प्रशसा अनुराग भी कभी,
विनाश होगा उस दिव्य देह का
न यों कभी निश्चय पूर्ण रूप से ।

(२६)

कि योग-निद्रा निज सेविका, जिसे
पुकारते निश्चलताभिधान[2] से,
विठा चुकी लोचन-कोण मे, जहाँ
अजस्र देती पहरा प्रशान्ति है ।

(२७)

न सो रहे सप्रति ज्ञात-पुत्र हैं,
नु-मद-विस्फूर्जित है शिरा सभी,
निमेप के अतर मे कनीनिका[3]
अदृष्ट, ज्योतिर्मय, स्थैर्य्य-हीन है ।

---

[1]शोभा । [2]नाम । [3]पुतली ।

(२८)

प्रलिप्त है अष्ट-गुणानुभाव से
जिनेन्द्र की मानस-भूमिका सभी,
कषाय-मिथ्यात्व-विहीन-चित्त वे
चढ़े हुये हैं अब श्रेणि[1] सप्तमा।

(२९)

निवृत्त कर्म-क्षय हो, तुरन्त ही
प्रवीर ले हेतिक शुक्ल-ध्यान का,
जिनेन्द्र निःश्रेयस-गेह-रोहिणी
चढ़े हुये हैं क्षपकाख्य श्रेणि पै।

(३०)

सँहारते षोडश-कर्म-शत्रु वे,
प्रहारते अष्ट-कषाय-यूथ को,
विदारते हैं अनिवृत्ति की प्रभा[2]
चढ़े हुये हैं दशमा दशा सुधी।

(३१)

प्रवृत्त निद्रा-प्रचला-विनाश में,
विलग्न ज्ञानावरणादि-ह्रास में,
किये तभी पार अपार शक्ति से
जिनेन्द्र ने बारह[3] खंड ध्यान के।

---

[1]सातवाँ गुणस्थान। [2]विस्तार। [3]बारह गुणस्थान।

(३२)

हुआ उसी काल, अहो! अनन्त में
निनाद ऐसा कि जिसे कवीन्द्र ही
निशान्त में हैं सुनते कभी, यदा
समीर हो स्तंभित, शान्त व्योम हो।

(३३)

सुकोमला दक्षिण-वायु-श्वास से
समीर-संगीत-समान मोहिनी
पड़ी सुनायी ध्वनि अंतरिक्ष में
समीप आती द्रुत ज्ञातपुत्र के।

(३४)

*कुबेर संचालित चार अश्व का
समीप ही स्यंदन एक आ गया।
इतस्ततः सैन्धव[1] स्वीय टाप से
अ-धूलि धूलिध्वज[2] थे बिखेरते।

(३५)

सुरेन्द्र-चापाकृति-सी प्रलंबिता
सधी हुई रश्मि-विनिर्मिता कशा[3]
शताग[4]-संयोजित-वाजि-राजि[5] को
निदेश देती निज-दृष्टि-मात्र से।

---

[1]घोड़ा। [2]वायु। [3]कोड़ा। [4]रथ। [5]समूह।

*यह अंश केवल कवि-कल्पना है, जैन-ग्रंथों की ऐसी विचार-धारा नहीं है।

(३६)

सवार संगीत-तरंग पै, तथा
प्रकाश की वीचि-समूह पै चढा
अनभ्र सजान प्रशान्त वज्र-सा
समक्ष आया तब आर्यपुत्र के ।

(३७)

तुरंग चारों, तनु-देह प्रात के
प्रकाश-संताडित अभ्र थे कि जो
अपूर्व-पूर्वाभिमुखी प्रसंग से
पिशंग[1]-आरक्त[2]-मयूख-पुज हों ।

(३८)

न किन्तु ह्रेषा[3]-रव था समीर मे
क्षुर-प्रहाराश्व भी न श्रव्य था ।
तुरंग संयोजित रश्मि-रज्जु में
खड़े हुये, उन्नत श्याम कर्ण थे ।

(३९)

तुरन्त ही दिव्यरथी शतांग से
हुआ मही पै अवतीर्ण सामने,
विनीत हो, और निबद्ध-पाणि हो
यतीन्द्र से की इस भाँति प्रार्थना :—

---

[1]पीली । [2]लाल । [3]घोड़े का शब्द, हिनहिनाहट ।

(४०)

"अवाप्त की है वह उच्च भूमिका,
प्रभो! मिला सो वरदान आपको,
सुदुर्लभा जो मुनि को, मुनीन्द्र को
महा-तपस्या-व्रत-योग-याग से।

(४१)

"विहीन मिथ्या-मत से हुये, तथा
अधीन हो रच न काम-क्रोध के,
सुदूर अंधंतम मृत्यु-लोक से
प्रविष्ट होते अब हो द्यु-लोक में।

(४२)

"अत. चलो सम्प्रति दिव्य-लोक में—
निसर्ग-अंत.पुर में—जहाँ, प्रभो!
समस्त - देवासुर - मौलि - लालिता
विराजिता है वह आदि-देवता।

(४३)

"निसर्ग के घूंघट को हटा, सखे!
विलोकिये ज्योति मुखारविन्द की,
अभीम[1] प्रेमी जिस भाँति आप है
तथैव देवी भवदीय प्रेमिका।"

---

[1]अनानारित।

(४४)

प्रशान्त चांचल्य-विहीन देह से
समुत्थिता तत्क्षण आत्म-ज्योति सो
महान , पावित्र्य-प्रसन्नतामयी
हुई समारूढ शतांग पै तभी

(४५)

मनुष्य, के सुन्दर रंग-रूप मे
जिनेन्द्र-आत्मा अलकेश[1]-संग ही
हुई समासन्न; तुरन्त व्योम को
विशाल धाराट[2] उड़े विमान ले।

(४६)

विलोक चारो हय का प्रयाण यो
दिनेश के सप्त जवी[3] रुके तभी,
अशब्द-सगीत हुआ पुनः, तथा
पुनः उडे घोटक चित्र-पक्ष पै।

(४७)

पड़े सुपर्णा[4]-शफ[5]वेगवान हो
पुनः पुनः स्यंदन-मार्ग मे जभी
समीर के सस्तर स-स्फुलिग हो
रथानुगामी बनने लगे तभी।

---

[1]कुबेर। [2]घोडा। [3]घोडे। [4]घोडा। [5]खुर।

(४८)

कुबेर ज्यों स्यदन हाँकते चले,
विलोकते अग्रिम पश्चिमा दिशा,
न वायु-संभूत प्रभूत भूत थे,
वरंच तारे लख व्योम मे पडे ।

(४९)

महा जवी[1] घोटक स्वीय चाल की
अधीर झंझानिल चावते चले,
विलोक मानो प्रिय वस्तु सामने
चले, वढे चचल चाल अश्व वे ।

(५०)

चढे चतुश्चक्र जहाँ-जहाँ, वही
वटी चतुर्धार-मयी क्षण-प्रभा,
धरित्रि के ऊपर, जा अनन्त मे
अदृश्य गन्त्रीक[2], अश्रव्य हो गया ।

(५१)

सुदूर नीचे रथ के अनन्त से
पयोधि आदर्श[3]-समान भासता,
पड़ी वही पै प्रतिविंविता प्रभा
शताग की और शताग-मार्ग की ।

---

[1]वेगवाले । [2]गाडी (रथ) । [3]आईना ।

(५२)

सुदूर ऊंचे वह ऋक्ष-वृन्द भी
दिखा पड़े रंग-विरंग ज्योति के,
विमोचते थे वह धूमकेतु की
विभा धुरी से सब ओर व्योम में।

(५३)

यथा-यथा स्यंदन व्योम में बढ़ा
नवग्रहों के कर कक्ष पार यों
तथा-तथा भूमि अदृष्ट हो चली
विवर्द्धिता अश्व-कृता—त्वरा हुई।

(५४)

तथा-तथा अंशु सहस्र-भानु के
विकीर्ण प्रक्षिप्त शतांग-चक्र-से
बने सभी वे जल की फुहार से
विमुक्त पीछे जल-यान के, अहो!

(५५)

शतांग यों ही बढ़ता चला गया,
हुआ मही-गोल ख-गोल-ऋक्ष[1]-सा
प्रदीप्ति से स्यंदन के चतुर्दिशा
असंख्य तारागण वर्तमान थे।

---

[1]आकाश के तारों के समान।

(५६)

अगण्य नक्षत्र अनेक रूप के,
निगेग-वारेग अनेक रग के,
बँधे हुये एक अदृश्य तार मे
अपार ज्योतिर्मयता-निधान[1] थे ।

(५७)

नताग जाता जिम ऋक्ष-कूल से
अ-तेज होता वह वार-चद्र-सा
परन्तु ज्यो ही हटता सुदूर सो
पुनश्च होती ग्रह-तुल्य दीप्ति थी ।

(५८)

समुच्चता के अति उच्च शीर्ष पै
विमान को भी करता विमान[2] ही,
शताग ज्यो ही पहुचा कि सामने
दिखा पटा मदिर आदिशक्ति का,

(५९)

कही[3] गये हो यदि आप साँझ को
पयोधि-एकान्त-तटी विलोकने,
तथा वहाँ हो ठहरे दिनान्त के
नितान्त अस्तगत भानु[4] देखने,

[1]भाडार । [2]मान-हीन । [3]चार छन्दो का कुलक है । [4]किरणें ।

(६०)

अवश्य होगा भवदीय दृष्टि मे
सुदृश्य आया वह हेम-जाल का,
प्रतीत होता नयनाभिराम जो
अकंप आलंबित सांध्य सूर्य्य पै;

(६१)

मनोज्ञ अस्ताचल-मेघ-मडली
अवश्य होगी अधिनेत्र[1] भासती
प्रदीप्त अंभोनिधि-वक्ष-वासिनी
प्रभा-प्रतिष्ठा अभिराम अभ्र[2] की।

(६२)

अवश्य ही तो भवदीय कल्पना
विलोक लेगी शुभ दृश्य सो, कि जो
दिखा पडा शाश्वत शक्ति-धाम के
चतुर्दिशा केवल-ज्ञान-वान को।

(६३)

न किन्तु वैसा वह स्वर्ण-द्वीप जो
प्रकाश के मडल मे प्रदीप्त था,
तथा न वैसा वह हेम-जाल, जो
पडा हुआ था दिन-नाथ-भाल पै।

---

[1]नेत्र में। [2]बादल।

(६४)

कि रम्य जैसा अभिरामता-भरा
सुदृश्य था शाश्वत शक्ति-धाम का,
मनुष्य-मस्तिष्क - प्रतीत - सौम्यता
अतीत[1] होती उसके समक्ष थी।

(६५)

असंख्य-नक्षत्र-प्रभा मनोरमा
प्रकाशती मंदिर-पाद-पीठ पै,
रुका वहीं स्यंदन, तो कुबेर ने
जिनेन्द्र से की इस भाँति प्रार्थना —

(६६)

"पधारिये मंदिर में, न है मुझे
सुरेश-आज्ञा सहचार की, प्रभो!"
जिनेन्द्र होके अवतीर्ण यान से
मुदा पधारे उस दिव्यधाम में।

(६७)

प्रविष्ट होते प्रभु ने लखा तभी
विशाल-आकाश-प्रसार एकदा,
गयी जहाँ दृष्टि उसी दिगन्त में
असंख्य नक्षत्र विराजमान थे।

---

[1]गयी-बीती।

(६८)

समस्त तारे नियमानुकूल ही
स्वकीय-अक्षोपरि विद्यमान थे,
परन्तु ऐसी कुछ थी विभिन्नता
नृ-कल्पनातीत प्रतीत जो हुई।

(६९)

स-मौन संगीत समस्त व्योम में
पड़ा सुनायी उनको शनै. शनै,
शनै शनैः वे चल मेघ-भूमि[1] पै
प्रविष्ट होने उस धाम में लगे।

(७०)

निवेश-द्वारोपरि ऋक्ष-वृन्द जो
बँधे हुये वन्दनवार-तुल्य थे
प्रकाश-हास्यान्वित हो जिनेन्द्र का
समस्त थे स्वागत ही मना रहे।

(७१)

प्रवृत्त नीराजन[2] में भ-चक्र था
स्फुलिंग-लीलायुत धूमकेतु थे,
कला दिखाती बहु नृत्य की मुदा
मघा[3] विशाखा कृत्तिका स-रोहिणी।

---

[1]मेघों से बनी हुई भूमि। [2]चिराग-रोशनी। [3]नक्षत्रों के नाम।

(७२)

मरीचि,[1] विश्वा, रुचि, ज्वालिनी, क्षमा,
तथैव धूम्रा, तपिनी, प्रबोधिनी,
सभी कलाएँ दिवसाधिनाथ की
प्रसन्नता-सयुत भासमान थी।

(७३)

समेत पूषा[2], धृति, तुष्टि, पुष्टि के
स-मानदा श्री, रति, अगदा, सभी
निशेश की मजुकला अनत मे
अनूप आमोद-प्रमोद-युक्त थी।

(७४)

अक्षय्य निर्वाण-पद-प्रदायिनी
कि हस्त-सूत्रोचित[3]-कर्म-योजना
हुयी अछेरा[4]-कृति या कि आर्य्य की
अवर्णनीया घटना अपार्थिवा।

(७५)

कुवेर से दो डग अग्रगामि था,
स-तर्क था और प्रबोध-युक्त था,
परन्तु तो भी अति ही अवाक हो
विलोकता ही अनिमेष मै रहा।

---

[1]सूर्य्य की कलाएँ। [2]चद्रमा की कलाओ के नाम। [3]विवाहोचित। [4]भगवान का प्रथमसमवसरण जो देवताओ के साथ हुआ।

(७६)

विलोचनों मे रसना न थी, तथा
विलोचनों से रसना विहीन थी,
वखानता तो किस भाँति मै, कहो
कि क्या हुआ, या किस भाँति से हुआ ?

(७७)

मनुष्य से भाषण मे मनुष्य की
सुबुद्धि होती अति तीव्र तत्परा;
परन्तु द्रष्टा कहता स्व-भक्त से
सुवाक्य एकान्त-निकेत मे सदा।

(७८)

जहाँ न पानी-पवनानलादि का
प्रवेश होता महि का न व्योम का
नितान्त एकान्त-निवास मे कही
जिनेन्द्र थे, और अनन्त शक्ति थी।

(७९)

पवित्र एकान्त ! त्वदीय अंक में,
त्वदीय छाया-मय मंजु कुज में,
मुनीन्द्र, योगीन्द्र, किसे न अंत मे
सदैव दैवी-सहचारिणी[1] मिली।

---

[1] मुक्ति स्त्री।

(८०)

खडा रहा स्यंदन एक याम यो
जिनेन्द्र लौटे संग दिव्य शक्ति के;
प्रकाश के अंवर मे छिपे हुये
सु-व्यक्ति दोनो द्रुत एक हो गये ।

(८१)

कुवेर ने सत्वर ही जिनेन्द्र को
शताग मे सादर ज्यो विठा लिया;
कि त्यो लगे स्यदन-चक्र घूमने
तुरंग देवालय-द्वार से मुडे ।

(८२)

शतांग-चक्राहत-व्योम-मार्ग मे
प्रदीप्त होने वहु भस्मनी[1] लगी
पुनः पुनः वर्चिप[2] व्योम-चर्चिनी
स्फुलिग-माला वहु फेकने लगी ।

(८३)

यथा-यथा स्यदन व्योम के तले
चला महा आतुर तीव्र चाल से
तथा-तथा तारक उच्च धाम के
हुये परिक्षाम[3] प्रकाश-विन्दु-से ।

---

[1]किरणे, लपटे । [2]अग्नि । [3]दुवले ।

(८४)

तथा-तथा आगत व्योम-चक्र से
मनोज्ञ संगीत अश्रूयमाण[1] हो,
विलीन होता नभ में नितान्त ही
सुना गया था, न सुना गया तथा।

(८५)

तथा-तथा ही नभ की गँभीरता
अनन्त थी, सो फिर सान्त हो गयी;
उसी शिला के तट यान आ रुका
जिनेन्द्र-आत्मा फिर देहिनी[2] बनी।

(८६)

तथैव स्वर्गीय-प्रकाश-मार्ग से
चला पुनः स्यंदन लुप्त हो गया।
जिनेन्द्र ने लोचन खोल जो लखा
हुई प्रतीता ऋजुवालिका-तटी।

(८७)

महायती के हृदयानुबिम्ब से,
प्रसन्नता से पृथवी प्रपूर्ण थी;
प्रसक्त था आनन मुग्ध भाव मे
कि मूक प्राणी गुड़ खा गया कहीं।

---

[1]न सुनी गयी। [2]शरीरिणी।

(८८)

प्रवृत्ति सर्वज्ञ-विभावना-मयी
हुई अवाप्ता वह सर्व-दर्शिता;
मिला उन्हे भूत-भविष्य-काल का
त्रिलोक का सम्यक ज्ञान अंत मे।

(८९)

हुआ उन्हे यो व्यवधान[1] सूक्ष्म का—
सुविज्ञता मूर्त-अमूर्त द्रव्य की—
कि देवता-दुर्लभ ज्ञान-प्राप्ति से
हुये प्रचेता भगवान अंत मे।

(९०)

कल्लोलने पादप पै खगावली
लगी, वनी मोद-मयी महान ही,
लखे नदी मे पृथुलोम[2] कूदते
विलोकने ही अनिमेष हो गये।

(९१)

सुहावना माधव-मास मंजु था
प्रसन्नता मे परिपूर्ण रोदसी,
चतुर्थ था वासर-याम भी, जभी
मिला, अहो! केवल-ज्ञान देव को।

---

[1]ज्ञान। [2]मछली।

(९२)

विलोक विज्ञान-निधान आर्य्य[1] को
दिनेश अस्तगत हो चला तभी,
कि सूचना था वह दे रहा, न है,
रही न आवश्यकता प्रकाश की।

(९३)

जिनेन्द्र ही एक द्वितीय सूर्य्य है
सदा-प्रकाशी, दिन मे निशीथ मे,
न जीव होगे अघ-ओघ से दुखी
न पा सकेगा सुख अंधकार भी।

(९४)

विलोक सन्ध्या बहु देव-धाम में
प्रसन्न बाजे बजने लगे तभी
अनभ्र आकाश विराजमान था
चतुर्दिशा निर्मल दिग्विभाग मे।

(९५)

प्रभात-उत्फुल्ल प्रसून साँझ में
गिरे सपर्य्या[2] रचते जिनेन्द्र की
समीर भी शीतल मद-गंध ले
वहा महाब्राह्मण-पूजनार्थ था।

---

[1]श्री महावीर। [2]पूजा अर्चा।

(९६)

प्रवृत्त नक्षत्र स-हस्त उत्तरा,
शुभा घटी, उत्तम चन्द्र-योग था,
अतीव सौभाग्य-प्रदा जिनेन्द्र को
मिली नवा क्षायिक-लब्धियाँ[1] जभी।

(९७)

गिरा मही मे पट अधकार का
समस्त भू यो तमसावृता हुई,
कि जीव आये प्रभु-वन्दनार्थ जो
न जानते वे नर थे कि देव थे।

(९८)

उसी घडी शंख-निनाद हो उठा
विपाण, वशी, ढफ, वल्लकी[2] वजे
चतुर्दिशा भक्ति-समेत प्रार्थना
दिगन्त मे यो प्रतिशब्दिता हुई —

(९९)

"समस्त-ससार-समुद्र-सेतु को,
सुरेन्द्र-सपूजित-धर्म-केतु को,
अनन्त आभा-मय वीर विक्रमी
महा महावीर! प्रणाम आपको।

---

[1]कर्मोंके क्षयसे प्रकट होने वाले अनन्त सुख, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि ९ भाव। [2]वीणा।

(१००)

"सुवीर वीराग्रिम विक्रमी तुम्ही
निपातते संतत कर्म-मल्ल हो,
परीषहों के उपसर्ग जीतते,
कृतार्थ धर्म-ध्वज ! यत्न आपके ।

(१०१)

"सदैव इन्द्रादिक पूजते जिन्हे
सराहते है मुनि-सूरि[1]-सिद्ध भी,
अनन्त भू मे जिनकी गुणावली,
विहार मे मग्न अभीत सिंह-सी ।

(१०२)

"जिन्हे मिली है बहिरंग-संपदा,
तथैव लक्ष्मी बहु अतरग की,
अनन्त आत्मीय गुणानुवृत्ति के
समूह श्री-सयुत देव-देव है ।

(१०३)

"तुम्ही विजेता प्रभु ! कर्म-शत्रु के
महान वीराग्रिम नामधेय[2] हो,
प्रसिद्ध होगे तुम वीर नाम से
प्रभो ! विजेता मद-मान-मोह के ।

---

[1]पंडित । [2]नाम ।

(१०४)

"सदैव सरक्षक जीव-जन्तु के,
प्रकाश-कर्ता नव धर्म-मार्ग के,
सहाय हो केवल-ज्ञान-संग्रही,
प्रवृत्त हो विघ्न-विनाश मे सदा।

(१०५)

"निवृत्त जो मोह-मदादि-शत्रु से,
रथी अहिसा-मय श्रेष्ठ धर्म के,
परीषहाम्बोधि-तपो-तरंत[1] जो
स्वधर्म-सस्थापक ख्यात विश्व मे।

(१०६)

"विनष्ट चारो गतियाँ किये हुये
त्रिलोक-लक्ष्मी करते प्रदान हो;
प्रपच सारे न सता सके तुम्हे
प्रणाम हे सत्तम ! केवली, प्रभो !

(१०७)

"न लोभ के वश्य[2], न काम-क्रोध के,
न मोह के दास, न द्रोह-दभ के,
विमोहते जो मद-मान विश्व का
नमामि ऐसे नर-नाथ ! आपको।

---

[1]नौका। [2]वशीभूत।

(१०८)

"महा महावीर, नमामि आपको,
सुधीर, गंभीर, नमामि आपको,
नमामि कर्म-क्षय-हेतु आपको,
सदाश्रयी, श्रीवर हे, नमामहे।

(१०९)

"महान सवेग-समेत आप हैं,
न मुक्ति-दारा तजती कभी तुम्हे,
विरक्त हो कामज-सौख्य-भाव से
विशिष्ट वीराग्रिम वीर विक्रमी।

(११०)

"विहीन जो सर्व परिग्रहादि से,
प्रसक्त जो पाकर मोक्ष-इन्दिरा,
सदा समारूढ महान-ज्ञान पै,
प्रणाम है, हे मुनि, वीर, आपको।

(१११)

"विनाशते केवल-ज्ञान-सूर्य्य से
तुम्ही जगद्-ध्वान्त प्रशान्त-चित्त हो,
विशेष विश्वार्थ[1]-प्रदर्शनार्थ ही
हुये समुत्पन्न जगन्निवास हो।

---

[1]संसार का लाभ।

(११२)

"नरेन्द्र हो केवल-ज्ञान-राज्य के,
महेन्द्र हो भू-अवतीर्ण[1] स्वर्ग के,
प्रचार-कर्ता नव-धर्म-तत्त्व के,
नमामि हे नाथ समस्त विश्व के।

(११३)

"प्रभो! तुम्ही केवल-ज्ञान-भानु हो,
अशेष-विश्वेश! प्रणाम आप को,
तुम्ही कृपा-सिंधु दया-निधान हो,
प्रसिद्ध त्राता जग-जीव-जन्तु के।

(११४)

"प्रणाम श्री-सागर ज्ञान-सिंधु को
प्रणाम भू-भूषण विश्व-बंधु को,
नमामि सत्यार्थ-प्रकाश-भानु को,
नमामि तत्त्वार्थ-विकास-सानु[2] को।"

[द्रुतविलंबित]

(११५)

इस प्रकार महा अनुराग से
जगत था करता जब प्रार्थना,
प्रभु अचचल-चित्त उठे, तथा
चल दिये, लखिये, किस ओर को?

---

[1]भूमि पर आगत। [2]चोटी।

सत्रहवां सर्ग

[वंशस्थ]

(१)

जिनेन्द्र की संस्तुति का पुन. पुन·
हुआ प्रतिध्वान[1] समस्त लोक मे,
अपूर्ण शोभी दशमी द्विजेश भी
समेत-नक्षत्र प्रपूर्ण-सा लसा।

(२)

दिगन्तव्यापी व्यनुनाद[2] व्योम मे
मुहुर्मुहु-मंथर-चार-लग्न था,
हुई प्रसन्ना ऋजु-वालिका-तटी
स-कौमुदी थी कुमुदावली-समा।

(३)

हुई प्रजा के कल-कंठ-नाद से
प्रतिध्वनि-स्तभित रोदसी सभी,
सम-स्थली मे व्यनुनाद-वीचियाँ
प्रकाश-सचालित वेग मे वढी।

---

[1]प्रतिशब्द। [2]शब्द।

(४)

न केवला शैल-गुफा विनिर्गता
प्रतिध्वनि स्फारित[1] व्योम में हुई,
समस्त भू के, वन के, तडाग के
प्रहृष्ट प्राणी बहु-भव्य-भाव थे ।

(५)

परन्तु ज्योंही वह लीन हो गयी,
नितान्त निस्तब्ध हुई वसुंधरा,
न दुःख, मानों दुख की प्रतीति-सी,
अ-शब्दता मौन प्रतीत हो उठी ।

(६)

जिनेन्द्र के आनन से परन्तु थी
हुई न वाक्यामृत-धार-निःसृता,
तुरन्त प्राणी-प्रति शब्द-तुल्य वे
उठे, चले, और अदृष्ट हो गये ।

(७)

चले महाविप्र समस्त यामिनी
गये जहाँ संस्थित मध्यमा[2]-पुरी;
सु-विक्रिया-ऋद्धि-प्रभाव से, अहो !
किया कई योजन-मार्ग पार यों ।

---

[1]फैली हुई । [2]पावा (मध्यमा)

(८)

जिनेन्द्र सूर्य्योदय-काल मे धँसे
जहाँ कि पावा नगरी प्रसिद्ध थी,
मुहूर्त ऐसा मिलता न सर्वदा
पवित्र जो था, विजयाभिराम[1] था।

(९)

विलोक पावा-पुर-पौर-वृन्द ने
प्रणाम से स्वागत देव का किया,
प्रभात से ही प्रति-गेह मे चली
मनोज्ञ चर्चा प्रभु के प्रभाव की।

(१०)

जहाँ-जहाँ के पथ से चले सुधी
वहाँ-वहाँ के सब पौर धन्य थे,
—कि साधु देखे इनके न तुल्य, या
न ब्रह्मचारी इनके समान है।

(११)

कहा किसी ने इन-सा यती नहीं,
सुना किसी ने इन-सा व्रती नहीं,
यही समाचार समस्त ग्राम में
तुरन्त फैला कि यतीन्द्र आ गये।

---

[1]विजय-प्राप्ति की आशा मे मनोहर।

(१२)

प्रभात से ही नर-नारि-वृन्द में
हुआ समुद्वेलित सिंधु हर्ष का,
उठी डुबोती गृह-कार्य सर्वशः
अनूप-आनंद-तरंग चित्त में।

(१३)

मनोज्ञ ग्रामोत्तर मे प्रसिद्ध थी
जहाँ महासेन-समाख्य[1] बाटिका
वही रुके जाकर देव प्रात में—
मिला समाचार समस्त ग्राम को।

(१४)

तुरन्त नारी-नर का समाज भी
चला कृतारण्य[2]-समीप मोद मे;
न साधु ऐसा, इस ग्राम मे कभी
यती न आया प्रभु-सा प्रसिद्ध था।

(१५)

विलोक शोभा वदनारविन्द की,
निहार आभा प्रभु-अंग-अंग की,
बखानते थे सब एक-कंठ हो
कि मूर्तिमाना तप-सिद्धि आ गयी।

---

[1]'महासेन' इस सुन्दर नाम की। [2]उद्यान।

(१६)

जिनेन्द्र थे यद्यपि जानते सभी
तथापि पूछा जब वृत्त ग्राम का,
पता चला सोमिल[1] विप्रराज के
यहाँ महा उत्तम याग हो रहा।

(१७)

हुये सहस्रो समवेत[2] विप्र थे,
अशेष ज्ञाता बहु वेद-शास्त्र के,
समाज ऐसा न विहार-प्रान्त मे
कदापि एकत्र हुआ, न भाव्य[3] है।

(१८)

सु-योग ऐसा प्रभु ने विचार के
कहा कि "मै ब्राह्मण-प्रीति-पात्र हूँ;
सदैव चिंता इनको स्व-धर्म की
रही, रहेगी द्विज त्याग-मूर्ति है।

(१९)

"अत. सुने ये उपदेश मामकी,
प्रचार भू मे जिन-धर्म का करें,
सदैव शिक्षा अपने चरित्र से
धरित्रि मे दे नर-नारि-वृन्द को।

---

[1]सोमिलाचार्य्य। [2]इकट्ठा। [3]होने वाला।

(२०)

"बिता रहे जीवन अन्य लोग हैं
अजस्र आहार-विहार-मात्र में;
परन्तु हैं ब्राह्मण सत्य-रूप जो
रहस्य-ज्ञाता बहु-धर्म-कर्म के।

(२१)

"जिसे न आसक्ति, जिसे न शोक ही
कदापि आगंतुक[1] से चरिष्णु[2] से,
प्रमोद पाता बहु धर्म-भाव में,
वही कहा ब्राह्मण विश्व में गया।

(२२)

"विशुद्ध जो अग्नि-विदग्ध हेम-सा
खरा दिखाता निकषोपलादि[3] पै,
विहीन है जो भय-राग-द्वेष से
वही कहा ब्राह्मण साधु से गया।

(२३)

"तपोधनी, इन्द्रिय-निग्रही तथा
महाव्रती, पीडित लोक-ताप से,
जिसे मिला संगम आत्म-शान्ति का
कहा गया ब्राह्मण श्रेष्ठ है वही।

---

[1]आनेवाला। [2]जानेवाला। [3]कसौटी अथवा अन्य परीक्षा-साधन।

(२४)

"समत्व जो स्थावर-जंगमादि मे
विलोकता है निज दिव्य दृष्टि से,
त्रिधा[1] अहिंसा परिपालता, वही
प्रशस्य[2] है ब्राह्मण जीव-लोक मे।

(२५)

"न स्वप्न मे भी कहता अ-सत्य है,
तथैव पूजा-रत ब्रह्म-ध्यान मे,
न लोभ-क्रोधादिक के अधीन जो
वही सुना ब्राह्मण शास्त्र मे गया।

(२६)

"स-चित्त[3] हो, या कि अचित्त[4] वस्तु हो,
अनल्प हो, या कि अभूरि द्रव्य हो,
जिसे न हो ग्राह्य निदेश के विना
वही सुना ब्राह्मण लोक मे गया।

(२७)

"न चित्त से या तन से न वाक्य से
विचारता मैथुन प्राणि-मात्र में,
सदैव संस्तुत्य सभी प्रकार से
वही सुना ब्राह्मण शास्त्र मे गया।

---

[1]मनसा, वाचा, कर्मणा। [2]प्रशंसनीय। [3]सजीव। [4]मृत।

(२८)

"प्रलिप्त जो है न कदापि लोक मे,
सरोज के पत्र-समान नीर में,
अ-संग है जो नर काम-भोग से,
महाव्रती ब्राह्मण पूज्य है वही।

(२९)

"विरक्त है जो गृह से, गृहस्थ से,
तथा, अनासक्त[1] समस्त लोक से,
बना अनागार[2] अ-ग्रंथ[3] जो, वही
त्रिलोक मे ब्राह्मण पूजनीय है।

(३०)

"समत्व मे ही श्रमणाभिधानता,
जिसे लखाती नर ज्ञान-युक्त सो,
स्वभाव से या गुण-कर्म से सभी
मनुष्य होते अध-ऊर्ध्व वर्ण के।

(३१)

"लखा गया कर्म-प्रधान विश्व है,
सुना गया धर्म-प्रधान विप्र भी,
प्रसिद्ध है ब्राह्मण ब्रह्मचर्य्य से
तथा तपस्वी तप से सु-पूज्य है।"

---

[1]असलग्न। [2]गृह-हीन। [3]अपरिग्रही।

(३२)

जिनेन्द्र-वार्ता सुन विप्र-मडली
हुई समार्कपित प्रेम-भाव से
द्विजोत्तमो से अपराह्न-काल[1] मे
समस्त उद्यान प्रपूर्ण हो गया।

(३३)

चतुर्दिशा वेष्टित विप्र-वृन्द से
निविष्ट पूर्वाभिमुखी जिनेन्द्र की
हुई सुधर्मा-सम सांध्य-काल मे
प्रतीत सर्वोपरि धर्म की सभा।

(३४)

किया समारंभ जिनेन्द्र ने तदा
स्वकीय सभाषण धर्म से भरा,
अशेप-भापा-अनुगामिनी गिरा
वही त्रिस्रोता[2]-सम अर्ध-मागधी।

(३५)

कही गयी बंधन-मोक्ष-वस्तु क्या,
रहस्य क्या लोक-अलोक भाव का,
पदार्थ क्या आस्रव-सवरादि है,
कहे किसे जीव-अजीव-भावना।

---

[1]तीसरे पहर। [2]गगा (जिनेन्द्र द्वारा)

(३६)

कषाय-संलेखन[1] का प्रकार क्या
विनाशती है गति निर्जरा किसे,
मनुष्य को सम्यक एषणीय[2] क्या,
सभी स-व्याख्या भगवानने कहा ।

(३७)

जिनन्द्र ने भाषित अंत में किया
कि "दुर्लभा एक मनुष्य-योनि है,
अतः इसे ही सफला बनाइये
अवाप्त हो केवल-ज्ञान आपको ।"

(३८)

यथैव गंगा हिम-शैल-मूर्धजा
धरित्रि मे पावन-कारिणी बनी,
तथैव वाचा सरसा जिनेन्द्र की
बनी पवित्रा द्विज-वृन्द के लिए ।

(३९)

महायती के उपदेश-ज्ञान का
अगाध गांभीर्य्य विचार बुद्धि से,
तुरन्त अन्तर्दृग[3] विप्र हो गये
निहार आभा वदनारविन्द की ।

---

[1]मिटाना । [2]इच्छा करने योग्य । [3]आत्म-दर्शी ।

(४०)

समागता ब्राह्मण-मंडली सभी
अशेष-ज्ञानी प्रभु के पदाब्ज में
मिलिन्द-सी आतुर लोटने लगी
मिली रजोराशि विराग-सी उसे।

(४१)

प्रधान एकादश विप्र शीघ्र ही
जिनेन्द्र के उत्तम शिष्य हो गये,
बने स्वयं-दीक्षित[1] नेमि,[2] और वे
प्रसिद्ध आरे जिन-धर्म-चक्र के।

(४२)

अपूर्व-भूता घटना विलोक के
स-वेग साधारण पौर और भी
समस्त एकत्र हुये चकोर-से
जिनेन्द्र का आनन-चद्र देखने।

[द्रुतविलंबित]

(४३)

लख सुधी उस पौर-समूह को,
जगत की गति पै निज ध्यान दे,
वह दिये उपदेश, सुनो जिन्हे
विगत-छान्दस[3] ने न किये कभी।

---

[1]जिनदीक्षायुक्त मुनि। [2]पहियेका केन्द्र। [3]गत कविगण, प्रचीन ग्रन्थ-कर्ता।

(४४)

बहु शुभाशुभ मानव-वृत्तियाँ
कथित यों बहुधा उनसे हुईं;
सुन जिन्हें बहु पौर-समाज ने
हृदय शुद्ध किया, गति प्राप्त की ।

[वंशस्थ]

(४५)

कलंक है केवल एक पाप में,
न पाप-द्वारा कृत दंड-भोग में;
अवश्य पाप्मा[1] बहु दोष-युक्त है;
कुकर्म-कर्मा नर दंडनीय है ।

(४६)

कदापि पापी न प्रमोद पा सके,
अहर्निशा दैव यही विचारता,
अनेक ऐसे अकलंक कर्म हैं
लिखे गये जो स-कलंक स्वर्ग में ।

(४७)

मनुष्य-आत्मा यदि पाप-कारिणी,
प्रशान्ति पाती न कदापि स्वर्ग में;
वरंच होती भय-भीत दंड से,
अशान्त होता दिनरात चित्त है ।

---

[1]पापी ।

(४८)

पहाड़ चाहे गिरे पाप पै पडे,
निपात हो यद्यपि सप्त व्योम का,
परन्तु तो भी छिपते न है कभी
अवश्य होते सब व्याप्त दृष्टि में।

(४९)

घृणामयी[1] लोचन-पुत्तली जभी
महा जुगुप्सा[2] करती, विलोकती,
पदार्थ से दूर हटी, फिरी, झुकी,
लुकी, हुई बंद, सकी न देख भी।

(५०)

न भीति से संपति-काल रिक्त है,।
विपत्ति आशा-सुख से न मुक्त है,
न व्यर्थ आलिंगन दुख का कभी
यही सुखी जीवन-मार्ग, जानिये।

(५१)

स्व-धर्म की गुप्त सुषुप्त भावना
विपत्ति मे जागृत हो उठे जभी,
विचूर्ण हो वजुल[3] का प्रसून तो
सुगंध ही मानव-चित्त मोहती।

---

[1]घृणा का प्रभाव, घृणा की निंदा। [2]घृणा। [3]पुष्प-विशेष।

(५२)

यथा उगाती निज अंक में निशा
प्रफुल्ल तारावलि व्योम-रंजिनी,
विपत्ति भी मानव की गुणावली
प्रकाशती है, करती प्रकृष्ट है।

(५३)

यथैव पाये मरु-देश में गये
सु-विक्रमी स्तुत्य क्रमेलकाश्व[1] है;
तथैव आते गुण हैं मनुष्य में
विपत्ति के काल-प्रदेश से सदा।

(५४)

विपत्ति-छाया-तरु के तले जभी
विराज़ता है नर मौन धार के,
तभी वहाँ आकर देव-दूत भी
प्रभूत देते वरदान विश्व के।

(५५)

कभी-कभी मूर्ख मनुष्य क्रोध मे
अवश्य होता कुछ तीव्र-बुद्धि है,
परन्तु तो भी रहता विमूढ ही
प्रकोप मे बौद्धिक लोप निष्ठ है।

---

[1] ऊंट और घोड़े।

(५६)

महा वुभुक्षा-सम क्रोध भाव है,
उसे सदा खाद्य-पदार्थ चाहिए,
मृगेन्द्र का दारण[1] ही स्वभाव है,
प्रकोप का मारण ही प्रभाव है।

(५७)

किया नही जो अधिकार क्रोध पै,
जमा उसी पै अधिकार कोप का;
लुलाय,[2] हो क्रोधित, स्वीय शृंग पै
सदा उठाता वहु भार घास का

(५८)

न क्रोध हो, तो फिर पाप भी नही,
न कोप हो, तो अभिशाप भी नही,
न मन्यु[3] हो, तो न अमान[4] भी कही,
न रोप हो, तो न अशान्ति भी कही।

(५९)

अतीव श्रेयस्कर लोभ-त्याग है
पिता वना जो सुख-प्राप्ति-भाव का,
मनुष्य वुड्ढा वनता प्रलोभ से,
सदैव लिप्सा[5] उपजा सकी तृषा।

---

[1]नोचना। [2]भैंसा। [3]क्रोध। [4]अपमान। [5]पाने की इच्छा।

(६०)

मनुष्य जो निर्धन द्रव्य माँगता,
परन्तु लोभी सब सिद्ध चाहता,
प्रवृद्ध होता प्रति-लाभ लोभ है
यही महा अस्पृहणीय[1] विश्व में।

(६१)

न आपको भी रखता विसर्ज्य है,
न पाप कोई इससे अवर्ज्य है,
प्रसूति है लोभ महान द्वेष की
प्रसिद्ध क्रोधादिक का पिता यही।

(६२)

मनुष्य लोभी धन ही विलोकता
न देखता द्रव्य विपत्ति-हेतु है,
यथैव मार्जार[2] विलोकता दही
न देखता दंड तना समक्ष ही।

(६३)

भरा हुआ यद्यपि स्नेह[3]-द्रव्य से,
समृद्ध है पूर्ण-दशा[4]-विशेष से,
तथापि होता मल-युक्त[5] दीप है
विलोक लब्धोदय[6]पद्मबंधु[7] को।

---

[1]अनिच्छित। [2]बिलौटा। [3]तैल। [4]बत्ती। [5]काजल। [6]उदित। [7]सूर्य।

(६४)

धरित्रि खोदी, रस-सिद्धि की, तथा
समुद्र लाँघा, गिरि पार भी किया,
सभी दुखो का सहना मनुष्य मे
महान विस्फूर्जित[1] है प्रलोभ का ।

(६५)

न वस्तु निंदा-सम शीघ्र-गामिनी,
तथैव ऐसी सरला न अन्य है,
प्रसार होता इस-सा न अन्य का,
न व्याप्ति होती पर-वस्तु की यहाँ ।

(६६)

स-गर्व निन्दा करती प्रहार तो
न पुण्यवत्ता बचती कदापि है,
न दुग्ध-सा श्वेत-चरित्र जीव भी
धरित्रि मे है अपवाद[2] से बचा ।

(६७)

निराश प्राणी अति मद-भाग्य है,
रही न, आशा जिसको धरित्रि मे,
तमिस्र से पूर्ण हताश जीव की
निशा न नक्षत्र प्रकाशती कभी ।

---

[1]स्पष्ट होना । [2]कलंक ।

(६८)

जिसे न कोई सुख है, न शान्ति है,
न जीवनाशा[1] जिसमें स-कान्ति है
जिसे किया वेष्टित नित्य भ्रान्ति ने
हताश प्राणी कब दीर्घ जी सका।

(६९)

निशीथिनी[2] जीवन-संगिनी जिसे
तथा निराशा जिसकी कु-स्वामिनी
उसे कहाँ सौख्य, कहाँ प्रसन्नता;
अहो! घटी भी युग-तुल्य दीर्घ है।

(७०)

सु-मित्र जाते कहते निराश-से,
न प्रेम-द्वारा व्रण पूर्ण हो सका;
सु-वैद्य भी यों कहते चले गये,
समा चुका है यह रोग अस्थि मे।

(७१)

धरित्रि मे क्रीडन-वस्तुएँ सभी,
उदात्त-भावावलि नष्ट हो रही,
खिचा यहाँ का सब तत्त्व मद्य-सा
रहा-सहा सो सब नष्ट-भ्रष्ट है।

---

[1]जीने की आशा। [2]रात्रि।

(७२)

स-यत्न वोये वह वीज लाभ के
अनिच्छिता प्रत्युत[1] हानि ही हुई,
यही निराशा अति दु ख-दायिनी,
दिनान्त आया कि विभावरी हुई।

(७३)

लखा कृतारण्य-समीप आम्र ही
विलोक आस्वादन-हेतु जो वढे,
नितान्त ही वे सव अम्ल-चुक्क[2] थे
किसे कहे विश्वसनीय विश्व मे।

(७४)

समक्ष आशा लख मूर्त थी, चले
वढ़े जभी यौवन के प्रवेग मे,
परन्तु छाया-सम भागती गई
न छू सके, वासर अस्त हो गया।

(७५)

लखा न सतुष्ट मनुष्य विश्व मे
गयी वुभुक्षा न, प्रकाम[3] खा चुके,
धनाढ्य-प्राणी वहुधा दरिद्र है,
गुणाढ्य को भी गुण और चाहिये।

---

[1]वल्कि। [2]खट्टे। [3]खूव।

(७६)

लखा असंतोष मनुष्य-भाल पै
भरा हुआ मानस दु:ख-नीर से,
विलोचनो मे उमड़े पयोद थे,
अधीरता आनन मे विराजती।

(७७)

लखी गयी दु:ख-बिना कराह है;
सुना गया रोदन हेतु के बिना।
न रंच आवश्यकता प्रपंच की
अतुष्टि ही है अनुभूत हो रही।

(७८)

अहो, असंतुष्ट-मनुष्य-चित्त मे
न प्राप्ति का आदर है, न मान है,
जिसे नही इच्छित 'देव-दत्त' हो
बने न 'भिक्खूमल' कौन रोकता[1] ?

(७९)

कृतघ्न प्राणी-सम दुष्ट जीव को
धरित्रि-उत्पत्ति न दे सकी कभी,
वसुन्धरा-मध्य अनेक पाप है;
यही महा पाप, महा कु-कर्म है।

---

[1] जो मनुष्य अपना नाम 'देवदत्त' न रखना चाहे, वह 'भिक्खूमल ही रखले।

(८०)

सुतीक्ष्णता मे अथवा विघात[1] म
सुरेन्द्र का वज्र प्रसिद्ध लोक मे,
परन्तु सो भी इस-सा न तीक्ष्ण है
प्रहार मे, मारण मे कि वेध[2] मे

(८१)

सहस्र-आशीविष-दंश तुच्छ है,
असंख्य भी वृश्चन[3]-डंक सूक्ष्म है,
अगण्य दैवी अभिशाप व्योम से
प्रकाड वर्षा करते कृतघ्न पै।

(८२)

कृतघ्न है जो कृत को न मानता,
कृतघ्न है जो रखता रहस्य है,
कृतघ्न है जो वदला[4] न दे सके,
कृतघ्न है मानव भूल जाय जो।

[द्रुतविलंबित]

(८३)

इस प्रकार कहे कुछ दोष जो
मनुज का करते विनिपात है,
फिर लगे कहने गुण जो सदा
शुभ-समुत्थित जीवन-हेतु है।

---

[1]चोट। [2]वेधन। [3]विच्छू। [4]प्रत्युपकार।

[वंशस्थ]

(८४)

प्रशंसकों को हम प्रेम-भाव से
विलोकते है, करते सु-प्रीति है
बने हमारी स्तुति के सु-पात्र जो
न सर्वदा वे नर प्रीति-पात्र है।

(८५)

सदा प्रशसा करना मनुष्य की,
कि जो महा आदरणीय व्यक्ति हो,
मनुष्य का उच्च उदार भाव है,
गुणावली के स्रग[1] का सुमेरु[2]-सा।

(८६)

लखा गया मार्दव ही मनुष्य के
विनाशता जीवन के कटुत्व को,
अशेष अंगार, इसे प्रशैत्य दो,
जला सके चित्त न चित्तवान का।

(८७)

कभी हँसाते शिशु साधु-संत को
विलोकिये यों हँसते हुये उन्हे,
कि खीचते वस्त्र, करस्थ पात्र भी,
प्रसन्न होते करते विनोद है।

[1]माला। [2]प्रधान गुरिया।

(८८)

असार जाती वह प्रेम-प्रक्रिया
न आर्द्र होता यदि अन्य जीव तो,
पयोधि का नीर यथैव लौटता
पयोधि को भूमि विहाय अंत मे ।

(८९)

कहो, बचाया किसने न नाश से
कभी-कभी सूक्ष्म पदार्थ तुच्छ जो,
गिरा हुआ पुण्य, फिरी हुई शिला,
मुड़ी अँगूठी कि अराल वाल भी ।

(९०)

उदारता है अघ-ओघ ढाँकती,
परन्तु फैले यदि स्वीय गेह से,
सुवृक्ष-सा सिंचित देव-वृन्द से
उदार प्राणी फलवान है सदा ।

(९१)

कुलीनता, कोमलता, विनम्रता,
विशुद्धता, आत्म-पवित्रता तथा
निवास आके करते उदार मे
इन्ही गुणो से जित' सर्व-भूमि है ।

'जीती गयी ।

(९२)

उदारता शान्ति प्रसारती जहाँ,
जहाँ पदों से करती पवित्र भू;
कुबुद्धि के वक्र स्वभाव को वही
विनाश देती ऋजुता[1] प्रभाव से।

(९३)

उदारता है मृदु भाव चित्त का
न हस्त का और न प्राप्त द्रव्य का,
धरित्रि मे वर्षण साम्य-भाव से
पयोद मे है अथवा उदार में।

(९४)

पवित्र से भी अति ही पवित्र जो,
समुज्ज्वला मौक्तिक-ओस-बुद-सी,
वही धरा मे अकलंक चंद्रमा
पतिव्रता-चारु-चरित्र स्तुत्य है।

(९५)

सुभीरु पातिव्रत-वर्म्म[2]-सज्जिता,
अभीरु पातिव्रत-शस्त्र-संयुता,
अरण्य मे भी सुर-वृन्द-रक्षिता
पवित्र नारी सबला महान है।

---

[1]सरलता। [2]तन-त्राण, कवच।

(९६)

पवित्रता नारि-शरीर की उसे
सदा बनाती अति पूत-बुद्धि है,
मनुष्य को मंदिर-मध्य पुण्य से
अवाप्त होती ललना पतिव्रता ।

(९७)

अवश्य पातिव्रत एक रत्न है,
मिला न जो पंकिल सिंधु में कभी,
खिला सका स्वर्ग्य प्रकाश गेह में,
बना सका रत्नवती वसुन्धरा ।

(९८)

मनुष्य भू में उगता प्रसून-सा
समेत इच्छा हृदयस्थ गन्ध-सी,
समीप आते जब भाव भृङ्ग-से
सदा बनाते फलवान हैं उसे ।

(९९)

पतंग भू के उडु-वृन्द चाहते,
निशीथ भी नित्य प्रभात चाहती,
मनुष्य के जीवन में विषाद[1] दो
न चाहना एक, द्वितीय चाहना ।

---

[1]दु:ख-चिंता ।

(१००)

समर्थ होते धृतराष्ट्र जो कहीं
स्व-पुत्र-इच्छा-बल के निपात में,
प्रपूर्ण होता यह देश कीर्ति से
कदापि युद्धाग्नि न दाहती इसे।

(१०१)

समर्थ होता यदि जीव यत्न में—
धरित्रि के बन्धन के विनाश में;
न स्वर्ग था दूर किसी प्रकार भी
अवश्य होता अवतीर्ण भूमि पै।

(१०२)

मनुष्य के जीवन की सुधा तथा
सदा नवेच्छा-जननी[1] प्रसिद्ध जो
प्रसन्न आशा मन-पक्ष-चारिणी
विहारिणी संतत सर्व-लोक की।

(१०३)

मनुष्य का जागृत स्वप्न है यही
विपत्ति की औषध शुल्क[2]-हीन है
सदैव जो दुःखित चित्त-भार की
प्रवाहिनी है सरिता-शिरा-समा।

---

[1]नवीन इच्छाओंको उत्पन्न करनेवाली। [2]मूल्य या फीस।

(१०४)

प्रफुल्ल आशा नव वाटिका यहाँ,
प्रसून होते जय-माल के लिए,
यही लगे है फल जो कि दे सके
प्रसाद सु-स्वादु विपन्न[1] जीव को।

(१०५)

न रंच आशा, फिर भी जिया दुखी
विपत्ति मे सपत्ति चाहता हुआ,
समुद्र मे नाविक अट्टहास ले
हँसा, मिलेगा तट तो अवश्य ही।

(१०६)

यही प्रभा जीवन-मार्ग मे सदा
प्रदीप-सी सतत कान्तिमान है,
प्रगाढ होता तम है यथा-यथा
तथा-तथा उग्र प्रकाश फैलता।

(१०७)

सदैव प्राणी रमता धरित्रि मे
जहाँ-जहाँ भी वह जा सका कभी,
वहाँ-वहाँ श्वास-समान साथ मे
अजस्र आशा बल दे सकी उसे।

---

[1]दुःखी।

(१०८)

विचार के बादल श्याम-रंग के
जभी लगे नीर-विपत्ति ढाहने,
क्षण-प्रभा[1]-सी निज ज्योति दे सकी
प्रसन्न आशा मृदु अट्टहास से।

(१०९)

सदैव आशा फलती नही यहाँ,
तथापि इच्छा रहती मनुष्य की,
प्रकाशती जीवन--संगिनी यही
विपत्ति मे, संपति मे समान ही।

(११०)

अवश्य होगी गत यामिनी कभी,
कभी उगेगा रवि पूर्व-शैल पै;
प्रभात-आशा-वश कंज-कोष मे
प्रकाश पाता अलि[2] अंधकार में।

(१११)

पयोद के पश्चिम[3] रश्मियाँ छिपी
प्रकाश आता जल बेधता हुआ
परेश ने ही इस कर्म-लोक में
सदैव आशा रखना सिखा दिया।

---

[1]बिजली। [2]भ्रमर। [3]पीछे।

(११२)

प्रभात के कोमल दूर्व-तन्तु मे
पुहे हुये मौक्तिक-वृन्द ओस के,
अनूप-आशा-कण है धरित्रि मे
कि जाल लूता[1] अपना बिछा रही।

(११३)

स्वकीय गाथा कहती यही, कि जो
वृथा, असारा, पर सौख्य-दायिनी
मनुष्य हो निर्भर सो गया जभी
उसे निराशा मिल स्वप्न मे गयी।

(११४)

सभी गुणों की जननी महा शुभा
विनम्रता ही अति पुष्ट नीव है,
समुच्च निर्माण विधेय हो जिसे
वही बने निम्न, न अन्य मार्ग है।

(११५)

अवश्य ही उद्यत पाँव साधु का
पिपीलिका[2] को करता विचूर्ण है,
विना विचारे लघु जन्तु पीसना
विनम्रता का अति ही अभाव है।

---

[1]मकड़ी। [2]चींटी।

(११६)

सु-मान देना निज से समुच्च को,
असीस लेना निज से विनिम्न से,
मनुष्यता का ऋण है धरित्रि मे
इसे चुकाता नर उत्तमर्ण[1] ही।

(११७)

विनम्रता ही जिस ज्ञानवान की
सुरम्य भूषा, वह वस्त्रवान है;
न एक, दो, तीन, न चार, पाँच ही,
सुवस्त्र पर्य्याप्त मनुष्य नग्न को।

(११८)

अदोष प्राणी लख प्राण दोष के
कि शुष्क होते, सहते न दृष्टि है,
स-शंक ज्यों ही अपराधिता[2] हुई
कि कंप आता उसमें अवश्य ही।

(११९)

प्रकाम-सारल्य-पवित्रता - मयी
अदोषिता दे सबको सु-योग्यता,
कि वे भगा दे कटुता, कलंक या
स-दोषिता को निज चित्त-भूमि से,

---

[1]साहूकार। [2]अपराध करने की प्रवृत्ति।

(१२०)

न भीति, शका, न अनेक दर्प ही
हिला सके चित्त अदोष जीवका;
बना रहा सो अपराध-हीन ही
बडे भले ही नर अन्य हो यहाँ ।

(१२१)

अदोप ने स्वर्ग लखा प्रसून मे
समस्त-ब्रह्माड-निविष्ट रेणु मे,
अनन्तता हस्त-गता लखा पड़ी
बसी हुई शाश्वतता मुहूर्त मे ।

(१२२)

दया नरो की परमा हितैषिणी
यही महा सत्तम शेष ज्ञान है,
अहो, दया-हीन मनुष्य विश्व मे
पवित्र-चारित्र्य-प्रभाव-शून्य है ।

(१२३)

दया दिखावे यदि अन्य जीव तो
सखे ! बढा दो तुम भी परत्र[1] को
चले इसी भाँति परंपरा तभी
सुकर्म, है सभव, स्वर्ग मे मिले ।

---

[1]दूसरा ।

(१२४)

मनुष्य की भिन्न मनोनुवृत्ति को,
मनुष्य की मूर्छित प्राण-वायु को,
मिला सके मार्दव-पूर्ण भाव ही
जिला सके आर्जव-पूर्ण वाक्य ही।

(१२५)

परेश, जो सर्व-गुणानुभाव हैं,
महा दया-धाम क्षमावतार हैं,
स-धर्म-प्राणी-तन-भस्म, भी अहो !
बना दया से सरसा सका वही।

(१२६)

जहाँ-जहाँ शोभित जीव-लोक है
वहाँ स्थली जीव-दया-प्रचार की,
परन्तु प्राणी दृग-हीन ही सदा
बटोरते कंटक, रत्न त्याग के।

(१२७)

कथा दया की सुनते मनुष्य तो
तुरन्त ही हो उठते सदाश्रयी[1],
स-प्रेम साश्चर्य्य विलोकते उसे
दया लखाती जिस धन्य जीव में।

---

[1]अच्छे आश्रय वाला।

(१२८)

परेश की पूर्ण दया पयोद हो,
सदा धरित्री पर वर्षती हुई,
मनुष्य को जीवन-दान दे रही
स-प्रेम-धारा झरती निरंतरा।

(१२९)

दया, क्षमा से परिपूर्ण, पूर्णता
प्रदान भू में करती मनुष्य को,
दया नृपों को अभिषिक्त न्याय[1] से
बना सकी ईश्वर-तुल्य विश्व में।

(१३०)

यथैव चित्रावलि पृष्ठ-भूमि की
विचित्रता से बनती स-चित्र है,
मनुष्य की शील-पवित्रता तथा
सलज्ज जो, तो अधिका पवित्र है।

(१३१)

उगी हुई कंटक के तले सहा
यथा लखाती अति ही मनोज्ञ है,
तथा कँटीले भ्रुव के तले लसी
सलज्ज की सुन्दर अक्षि[2] सोहती।

---

[1]अथवा, दया से अभिषिक्त न्याय। [2]आँख।

(१३२)

विलोक के सुन्दरि की सुरूपता
मनुष्य होते अति ही बिभोर हैं,
स-लज्ज नम्रा वरुणी-समाहिता
महान शोभा लखता रसज्ञ ही।

(१३३)

प्रगाढ़ विश्वास, अदूष्य न्याय या
न सत्य, लज्जा-सम शंसनीय है,
स्वकीय निंदा सुन जो सलज्ज हो
वही सुधी सम्यक शीलवान है।

(१३४)

यहाँ शतों मे रणवीरता लखी,
लखी सहस्रों नर में सुविज्ञता,
गुणी लखे पूरुष लक्ष-कोटि भी,
उदार एकाधिक[1] दीखते नहीं।

(१३५)

'यही हमारा, वह आपका तथा
न है किसी का यह, बाँटलो इसे'—
प्रवृत्ति ऐसी नर तुच्छ की लखी,
उदार को विश्व कुटुम्ब-तुल्य है।

---

[1]एक-दो के अतिरिक्त।

(१३६)

सुधी प्रदाता नर सेव्य है सदा,
अतीव चाहे वह तुच्छ क्यों न हो,
विहाय आये घन व्योम में सभी
मनुष्य पीते जल कूप का, सखे !

(१३७)

परेश देखे नर से गये नहीं,
न देव ही भू पर दृश्यमान है,
कुबेर की भी बस एक ही कथा,
सुप्राप्त सत्पूरुष ही कभी-कभी।

(१३८)

न तोष-पीयूष-समान विश्व में
प्रशान्ति प्राणीजन को मिली कभी
यहाँ वहाँ लुब्धक[1] के समान जो
मनुष्य भागा वह क्या कमा सका।

(१३९)

न दुःख दे मानुष अन्य जीव को
न दुष्ट के संमुख नम्र हो कभी,
न त्याग के सज्जन-मार्ग विश्व में
कमा लिया द्रव्य अनल्प है वही[2]।

---

[1]बहेलिया। [2]जो कुछ प्राप्त हो, वही बहुत है।

(१४०)

वही सुधी भू पर पुण्यवान है,
वही तरा दुःख-पयोधि अंत में,
धरित्रि-सम्मोह-प्रसू[1] अजेय जो
महान आशा, उसको मिटा सके।

(१४१)

समीर खाते अहि, किन्तु हृष्ट है,
पलाश खाते गज, किन्तु पुष्ट हैं,
सभी इसी भाँति मनुष्य धैर्य से
प्रकृष्ट-तोषामृत-पान-लीन हैं।

(१४२)

स्व-प्राण के या धन के प्रदान से
निबाहता जो कि परोपकार है,
धरित्रि में सो नर धन्य; अन्यथा
कभी न देता धन साथ प्राण का।

(१४३)

पयोद, वारीश, दिनेश, भेश,[2] या
अरण्य, गो, सज्जन आदि विश्व में
परो.पारार्थ रचे गये यहाँ
प्रवृत्ति अन्या इससे न श्रेष्ठ है।

---

[1]पृथ्वी पर मोह की जननी। [2]चंद्रमा।

(१४४)

परोपकारार्थ प्रसून फूलते,
परोपकारार्थ फली[1] प्ररोहते,
परोपकारार्थ नदी-गवादि है,
परोपकारार्थ शरीर साधु का।

(१४५)

गजेन्द्र भी खा तृण दान दे रहे,
सुरेन्द्र भी धन्य परोपकार से
न पुण्य कोई पर-लाभ-सा यहाँ
परार्थ[2] तीर्थंकर भी पधारते।

[द्रुतविलंबित]

(१४६)

सकल विश्व विभाजित है द्विधा
विधि-प्रपंच भरा गुण-दोष से।
मिल सकें यदि मंजु मराल तो
पय[3] लहे पय[4] त्याग करें सुधी।

[वंशस्थ]

(१४७)

प्रवृत्त संध्या उस काल हो गई
निशेश-ज्योत्स्ना-मय अंतरिक्ष था।
अशेष-नक्षत्र-प्रकाशमान हो
बना रहे थे नभ अर्क[5]-वृक्ष-सा।

---

[1]वृक्ष। [2]दूसरे के लाभ के लिये। [3]दूध। [4]जल। [5]मदार।

(१४८)

समस्त श्रोता-तति[1] तारकावली,
विशुद्ध स्वर्देव-धुनी[2]-समा गिरा,
विराजते थे द्विजराज राजते
धरित्रि में अंबर में न भेद था।

(१४९)

जिनेन्द्र बोले वह धर्म-वाक्य जो
कि सर्व-साधारण बोध-गम्य थे;
गृहस्थ के साधु-समाज के सभी
बता चले धर्म तथैव कर्म भी।

(१५०)

असंख्य प्राणी इस जीव-लोक में
परीषहों के उपसर्ग भोगते
अघों-भयों का, दुख-ग्लानि-क्लेश का
महान मिथ्यात्व अनन्य-हेतु है।

(१५१)

अतीव अच्छा जलना हुताश में,
तथैव हालाहल-पान श्रेष्ठ है,
परन्तु मिथ्यात्व-समेत धर्म में
मुहूर्त जीना मरना समान है।

---

[1]मंडली, श्रेणी। [2]आकाश-गंगा।

(१५२)

सरीसृपों से मरना वरिष्ठ है
न श्रेष्ठ मिथ्यात्व-कुभाग्य भोगना,
भुजंग देता दुख एक जन्म ही,
परन्तु मिथ्यात्व अनन्त-काल लौ।

(१५३)

यहाँ तुला में अघ-ओघ डालिये,
वहाँ पला मे रखिये असत्य को,
विलोकिये सर्षप[1]-से अघादि हैं
तथैव मिथ्यात्व सुमेरु[2]-तुल्य है।

(१५४)

निकालता जो भव से, भवाब्धि से.
तथा बनाता प्रभु तीन लोक का,
प्रभूत जो केवल-ज्ञान-युक्त है,
विशाल ऐसा जिन-धर्म विश्व में।

(१५५)

महान दुखादि-विनाश-हेतु जो
तथा सदा कामद[3] जीव-लोक को
प्रकाम देता भव-संपदा सदा
प्रसिद्ध होगा जिन-धर्म लोक में।

---

[1]सरसों। [2]पर्वत। [3]कामना-पूर्ति करनेवाला।

(१५६)

अ-चौर्य्य, ईर्या, मन-गुप्ति, एषणा,
तथा अहिंसादिक तेरहों कला;
प्रशंसते जो मुनि वीत-राग[1] हैं
कहे गये वे अर[2] धर्म-चक्र के।

(१५७)

सदा धरो धर्म स्वकीय चित्त में,
सदैव चर्चा जिन-धर्म की करो,
तजो सभी संसृति धर्म के लिये
शरण्य लो, संस्थिर हो, स्व-धर्म मे।

(१५८)

स्व-धर्म-सेवा विहिता क्षमा-युता,
क्षमा सदा क्रोध-प्रशान्ति-तत्परा,
प्रसिद्ध है मार्दव क्रोध-शत्रु ही,
यही जनों का अभिमान मारता।

(१५९)

स्व-धर्म का आर्जव एक अंग है,
अकार्य्य कौटिल्य निवारता वही,
'ऋतं च सत्यं' जिन-धर्म-रूप है,
अलोभ-शौचादिक दिव्य भाव है।

---

[1]विरागी। [2]आरे।

(१६०)

महा—त्रस-स्थावर-रूप देह की
सदा सुरक्षा करना विधेय है
प्रसिद्ध जो द्वादश भाँति का, सखे !
वही नरो को तप-जाप ध्येय है।

(१६१)

सु-धर्म का लक्षण एक त्याग है,
सदैव आवश्यक ब्रह्मचर्य्य भी,
यही दशांगा जिन-धर्म-भावना
सभी नरो से परिभावनीय[1] है।

(१६२)

हिरण्य, लक्ष्मी, वहु विश्व-सपदा,
अभीप्सिता इन्द्रिय-तृप्ति, आयु भी,
क्षण-प्रभा के समकक्ष[2] है सभी,
अत. करो निश्चल सौख्य-साधना।

(१६३)

न जीव को मृत्यु परीषहादि से,
न रोग से या दुख से न ताप से,
अभीष्ट हो शाश्वत आयु-भोगना,
शरण्य है केवल एक धर्म ही।

---

[1]चिंतनीय। [2]बरावर।

(१६४)

सु-धर्म दुःखादिक-नाश के लिए
सुधी नरो से परिभावनीय है
समस्त संसार विषाद-मूल है,
प्रयत्न रत्न-त्रय-प्राप्ति का करो।

(१६५)

स्वजीव-कल्याण-विधान धर्म है,
स्व-कर्म-शुद्धयर्थ सु-धर्म ध्येय है
स्व-धर्म है केवल-ज्ञान-प्राप्ति ही;
न कर्म जीते वन ज्ञान-दग्ध है।

(१६६)

अहो, महाखेद ! मनुष्य देह को
न जानते निर्मित सप्त धातु से,
शरीर का वे न ममत्व त्यागते,
अधीत-आत्मा बनते न केवली।

(१६७)

स्व-कर्म के संवर[1] से मनुष्य को
अवाप्त होती वह मोक्ष-संपदा,
अत. तपस्या अघ-हीनता-मयी
सदा दिलाती वह कर्म-निर्जरा[2]।

---

[1]निरोध। [2]समाप्ति।

(१६८)

धरित्रि को दु:ख-प्रपूर्ण जान के
प्रयत्न नि:श्रेयस-प्राप्ति का करो,
मनुष्य की योनि अलभ्य मान के
करो सदा सम्यक धर्म-साधना।

(१६९)

त्रिलोक-लक्ष्मी-सुख-प्राप्ति के लिए
विपाद-निष्कासन[1] के लिए, तथा,
जिनेन्द्र-द्वारा उपदिष्ट धर्म की
यथार्थ ही ईप्सित-लाभ-साधना।

(१७०)

सुखी जनो की सुख-प्राप्ति के लिए,
दुखी नरो के दुख के विनाश को,
जिनेन्द्र-संपादित धर्म-भावना
सुधी शिरोधारण मे प्रवृत्त हो।

(१७१)

वही सुधी है, वह पूज्य जीव है,
वही सुखी है, गुरु है, वरिष्ट[2] है,
विहाय जो कार्य्य समस्त विश्व के
प्रवृत्त होते जिन-धर्म-मार्ग में।

---

[1]निकालना। [2]श्रेष्ठ।

(१७२)

त्रिलोक को, या निज आयु को, तथा
सभी सुखों को, सब लोक-द्रव्य को,
सदैव नाशोन्मुख जान देह को
स्व-धर्म-सेवा करना यथार्थ है।

(१७३)

रथांग[1] है धर्म, यही निहार लो,
दशांग है धर्म, इसे विचार लो,
न भोग से प्रच्युत[2] अन्य वस्तु है,
न योग से उन्नत और मार्ग है।

(१७४)

परिग्रहों को सब भाँति त्यागना,
मनोवचःकाय-विशुद्धि साधना,
समुद्र को ग्यारह-अंग शास्त्र के
स-तर्क होके तरता मुनीश है।

(१७५)

परा - अहिंसा - मय-धर्म-साधना,
मुनीन्द्र है सम्यक पालते जिसे,
उन्हें मुदा द्वादश-भाँति योग से
अवाप्त होती बहु तुष्टि-पुष्टि है।

---

[1]चक्र। [2]निम्न।

(१७६)

सखे ! निराहार-व्रती मुनीन्द्र ही
विनाशता कर्म-गिरीन्द्र शीघ्र ही
कभी परित्याग रसादि का करे,
कभी करे कर्म-विनाश जाप से।

(१७७)

विविक्त[1]-शय्यासन हो कभी रहे,
कभी धरे कंवल मंजु धैर्य्य का,
प्रयुक्त हो एकरसानुवृत्ति मे
निदाघ-वर्षा-हिमकाल मे सदा।

(१७८)

अत. सुनो उत्तम धर्म-भावना,
मुनीन्द्र-द्वारा अति ही प्रशस्त जो,
सु-कर्म-लालायित पालते जिसे
सदैव नि.श्रेयस-दान-शील जो।

(१७९)

न क्रोध उत्पन्न करे कदापि जो
वही क्षमा उत्तम अंग धर्म का,
न मान को दे अभिवृद्धि स्वप्न मे
प्रशस्त सो मार्दव धर्म-शील का।

---

[1]एकान्त में सोना बैठना।

(१८०)

सदैव सारल्य-समेत सोहता
कहा गया आर्जव नाम से वही;
मनोवच:कायिक सत्य-भावना
प्रसिद्ध है उत्तम रूप से वही।

(१८१)

अ-लोभ है सत्तम, शौच श्रेष्ठ है,
न नीर में ही शुचिता अशेष है,
सदा अहिंसा-मय जैन-धर्म का
कहा गया संयम मुख्य अंग है।

[द्रुतविलंबित]

(१८२)

विपुल धर्म कहे बहु मर्म[1] भी
सुभग कर्म बता सब को दिये;
सब समाज अतंद्र जमा रहा
सुन सुधा-मय वाक्य मुनीन्द्र के।

[वंशस्थ]

(१८३)

यथा-यथा यामिनि वर्द्धिता हुई,
तथा-तथा ही जिन-धर्म की कथा,
रहे सभी संस्थित पौर, किन्तु वे
शनैः शनैः निर्गम[2] सोचने लगे।

---

[1]धर्म का रहस्य। [2]बाहर जाना।

(१८४)

मनोज्ञ एकादश इन्दु की कला,
यथैव क्षीणा उपवास-कर्पिता,
प्रकाम फैली नभ मे विलोकती
निमेष-हीना वन आस्य[1] देव का।

(१८५)

मनुष्य साधारण तो स-जृम्भ[2] हो
विलोकते सालस थे इतस्ततः
कि कौन जाये, पहले उठे, तथा
न जान पाये जन अन्य भी उसे।

(१८६)

जिनेन्द्र के किन्तु स-धर्म वाक्य की
अजस्र धारा वहती अवाध थी,
विलोक मध्या निशि की पदक्रमा[3]
चले सुधी वे गति शीघ्र-चारिणी।

(१८७)

समस्त अर्हन्त, प्रणाम आपको,
समस्त जो सिद्ध उन्हे, प्रणाम है,
समस्त आचार्य्य, समस्त साधु को
तथा उपाध्याय, तुम्हे प्रणाम है।

---

[1]मुख। [2]जम्हाई लेकर। [3]गति।

(१८८)

समस्त लोकोत्तर सिद्ध-साधु है,
समस्त तीर्थंकर सर्व-श्रेष्ठ है,
धरित्रि मे जो बहु धर्म, वे सभी
न केवली-रूपित-धर्म-तुल्य है।

(१८९)

सदा अहिसा रखना स्व-धर्म है
अदत्त लेना अपना न कर्म है,
मनुष्य जो उत्तम आत्म-निग्रही
उन्हें अविश्वास सदा अ-धर्म में।

(१९०)

न मार्ग पाथेय[1] बिना सुगम्य है,
सु-धर्म साथी पर-लोक का सदा,
न काल जाके फिरता कदापि है,
अधर्म का पादप पुष्प-हीन है।

(१९१)

सभी त्रस-स्थावर प्राणि विश्व के
अवध्य ही है न, अदंडनीय है,
विभीत होते सब दंड-नाम से;
कदापि प्राणी मरना न चाहते।

---

[1]सबल।

(१९२)

विपक्ष मे हो सम-भाव पक्ष मे,
तथा मृषा-भाषण में न प्रीति हो,
न सत्य-सा है तप और विश्व मे
कहा गया है, ऋत ब्रह्म-रूप है।

(१९३)

मनुष्य अस्तेय[1]-विचार-युक्त जो
वही व्रती आदरणीय है सदा,
न पालता जो जन ब्रह्मचर्य्य है
उसे नही आस्पद[2] मोक्ष का मिला।

(१९४)

कदापि लाता मन में, न दृष्टि मे
तपी स्त्रियो का मृदुहास्य, रूप भी,
विलास, लावण्य, कटाक्ष-वाण से
न विद्ध होता वह वीर धन्य है।

(१९५)

परिग्रही है वह जो पदार्थ पै,
ममत्व-मूर्छा[3] रखता सदैव है,
धरित्रि मे संग्रहणीय एक ही
सु-वस्तु है निर्मम-भाव-कल्पना।

---

[1]चोरी न करना। [2]पद। [3]मोह।

(१९६)

असत्य, हिसा, रति-मैथुनादि से,
परिग्रहो से, निशि-भोजनादि से,
विरक्ति होती जिसको वही सुधी
अनास्रवी[1] है, वहु-सिद्धि-पात्र है।

(१९७)

प्रमाद, आलस्य, स्व-मान क्रोध से
तथैव कुष्ठादिक-रोग से गृही
न सत्य-शिक्षा करता अवाप्त है
तथैव होता सुविनीत भी नही।

(१९८)

सु-पुण्य-द्वारा नर-योनि-प्राप्त हो,
चरित्र प्राणी अपने सम्हालता,
निपात होता यदि साधु-वृत्ति से
पुनश्च पाता वह भोग-योनि ही।

(१९९)

विहंग भारंड[2] प्रमाद-हीन हो
यथा विताता निज आयु मोद मे,
तथैव सोचे नर जागरूक हो,
शरीर है निर्बल, काल निर्दयी।

---

[1]कर्मास्रव-विहीन। [2]पक्षी-विशेष।

(२००)

न शीघ्र पाता नर आत्म-ज्ञान है,
अजस्र आवश्यक घोर साधना,
मनुष्य को संयम-मार्ग में सदा
प्रमाद से हीन विचार चाहिये।

(२०१)

धरित्रि मे, जीवन[1] मे, समीर मे,
तथैव वैश्वानर-अतरिक्ष मे,
शरीर पाता वहु वार जीव है,
अत. प्रमादी वनना अयुक्त है।

(२०२)

यथा समुत्पन्न विहंग अंड से
विहग से सभव अंड का हुआ
प्रसूत[2] तृष्णा इस भाँति मोह से
प्रभूत-तृष्णा-कृत मोह विश्व मे।

(२०३)

सदैव दु.ख-प्रद रागवान को
धरित्रि के इन्द्रिय-जन्य भोग है;
न वीतरागी नर को मिला कभी
कदापि आनंद मनोज-भाव[3] मे।

---

[1]जल। [2]उत्पन्न। [3]रति।

(२०४)

स-मान-क्रोधादि–अनिगृहीत जो
स-लोभ-मायादि–प्रवर्द्धमान जो,
कषाय हैं नीर-समान सींचते,
पुनर्भवानोकह[1]-मूल सर्वदा।

(२०५)

प्रशान्ति से क्रोध विनाशनीय है,
विनम्रता से अभिमान जेय है,
अवश्य ही आर्जव मोह नाशता,
प्रलोभ को तुष्ट मनुष्य जीतता।

(२०६)

व्यतीत होती द्रुत आयु विश्व मे
न काम-भोगादिक स्थैर्य्य-युक्त है,
मनुष्य जो शून्य-विकास हेय सो,
यथा पलाशी[2] फल-हीन त्याज्य है।

(२०७)

सुखी-दुखी प्राणि-समूह सर्वदा,
स्व-कर्म का ही फल भोगते यहाँ
न छोड़ती मृत्यु कदापि जीव को
मृगेन्द्र जैसे मृग को न त्यागता।

---

[1]वृक्ष। [2]पेड़।

(२०८)

विपत्ति में कच्छप स्वीय अंग को
सिकोड़ लेता जिस भाँति, हे सखे !
तथा सुधी भी विषयानुगामिनी
स्व-ज्ञान से इन्द्रिय-शक्ति खींचता ।

(२०९)

क्षमा तथा संयम मे प्रसक्त[1] जो
तपस्विता-आर्जव-युक्त जो सुधी
परीषहों का क्रम ही विनाशता,
मुमुक्षु सो सद्-गति-प्राप्ति-योग्य है ।

[द्रुतविलंबित]

(२१०)

प्रभु-कृता जिन-धर्म-विवेचना
समिति मे प्रसरी इस भाँति से,
जिस प्रकार सुगन्ध सरोज की
जल-तलोपरि छा रहती मुदा ।

[वंशस्थ]

(२११)

शनैः शनैः पौर उठे चले गये,
विसर्जिता धर्म-सभा हुई सभी,
विहाय ' ' एकादश-विप्र-मंडली
समीप कोई न रहा जिनेन्द्र के ।

[1]संलग्न ।

(२१२)

शनैः शनैः यामिनि भीगने लगी
प्रलंबिता ऐंदव[1]रश्मियाँ हुईं,
विहाय योगी-जन, और पौर या
न चौर भी हैं उस काल जागते ।

(२१३)

स्व-धर्म-संबोधित विप्र-मंडली
समीप बैठी प्रभु ज्ञात-पुत्र के
समाकुलेच्छा[2] उसमे अतीव थी
अवश्य ही धर्म-रहस्य-ज्ञान की ।

(२१४)

जिनेन्द्र बोले, "द्विज आज से तुम्हीं
प्रसिद्ध नेता मम धर्म के बनें;
हुये तुम्ही दीक्षित सत्य-मार्ग में
अत. करो साधु-समाज-कल्पना ।

(२१५)

"प्रचार ऐसा कर दो स्व-धर्म का
रहे न हिंसा-मद-मान विश्व मे,
अवश्य ही जीवन मे तुम्हे, सखे !
महान निःश्रेयस-सिद्धि प्राप्त हो ।

---

[1]चंद्रमा की । [2]उत्कट अभिलाषा ।

(२१६)

"अर्हनिशा संप्रति तीस वर्ष का
मदीय नेतृत्व अवाप्त है तुम्हे,
अत करो धर्म-प्रचार नित्यश
सु-कर्म-कल्याण मिले, सुखी रहो।

(२१७)

"प्रसिद्ध एकादश-संघ-राज[1] हो
सुपात्र हो केवल-ज्ञान-प्राप्ति के,
सभी करोगे जिन-धर्म-वृद्धि ही
समाप्त होगे 'गुण-शील' चैत्य मे।"

(२१८)

तपी व्रती पंडित वेद-शास्त्र के,
सभी गुणी ब्राह्मण थे यथार्थ ही,
किसी-किसी ही श्रुति[2]-मंत्र मे उन्हे
निगूढ शंका कुछ थी अवश्य ही।

(२१९)

जिनेन्द्र ने वेद-प्रसिद्ध मंत्र से
मिटा दिया संशय विप्र-वृन्द का
अत. हुआ भान उन्हे यथार्थतः
कि ज्ञान से निःसृत जैन-धर्म है।

---

[1]"गणराज'। [2]वेद। इन ग्यारह ब्राह्मणो को वेदार्थ में कुछ ऐसी शकाएँ थीं जिनको भगवान ने वेद-मंत्रो के अर्थ द्वारा समझाकर समाधान कर दिया था।

(२२०)

हुआ सभी ब्राह्मण-वृन्द को तदा
प्रगाढ विश्वास जिनेन्द्र-वाक्य मे,
हुये सभी धर्म-प्रचार-निश्चयी
नवीन आदर्श समक्ष आ गया।

(२२१)

शनै. शनै. बीत चली विभावरी
शनैः शनैः ब्रह्म-मुहूर्त आ गया,
उठे सभी विप्र, परन्तु आर्य्य ने
बिठा किया गौतम[1] इन्द्रभूति को

(२२२)

कहा, "अहो! भव्य सु-वंश हो तुम्ही
बने हमारे जिन-धर्म-केतु के,
जहाँ-जहाँ हो मम कीर्ति-कल्पना
सखे! तुम्हारा यश हो वहाँ-वहाँ।

(२२३)

"सुविप्र! आये तुम जीतने मुझे,
अवश्य जीता मुझको स्व-भक्ति से,
रहा न सदेह तुम्हे स्व-धर्म मे
रही न शका मुझको स्व-कर्म मे।

---

[1]इन्द्रभूति गौतम भगवान के प्रधान शिष्य हुये। इन्होने ही जैन-धर्म का सांगोपाग निरूपण किया। भगवान के मौखिक भाषणो को लिपि-बद्ध करके यह प्रथम प्रचारक हुये।

(२२४)

"अवश्य ही मैं अब आपकी, सखे !
सहायता से जिन-धर्म-चक्र को,
घुमा-घुमा के बहु देश-काल मे
सु-पात्र हूँगा सफला सुकीर्ति का ।"

(२२५)

परन्तु यों गौतम ने कहा, "प्रभो !
सुयोग्यता का मुझ मे न लेश है,
महामहत्ता है यह आपकी कि जो
मुझे बनालें इतना महान है।

(२२६)

"प्रभो ! यथा पारस-संग लौह से
सुवर्ण होता अति मूल्यवान है,
तथैव है सभव, आज मैं बनूं
स-नाथ हे नाथ त्वदीय साथ में ।

(२२७)

"सुबुद्धि,[1] सत्कीर्ति, विभूति, भावना
मिली कभी जो जिस भाँति से जिसे,
प्रभाव सत्सगति का अवश्य सो,
न सिद्धि पाते जन अन्य यत्न से ।

---

[1] मति कीरति गति भूति भलाई इत्यादि। तुलसी।

(२२८)

"प्रभो! मुझे निश्चय सत्य-भाव से
विवेक सत्संगति के बिना नही,
सुप्राप्त सो भी न, विहाय[1] आपकी
महान दुष्प्राप्य अहेतुकी[2] कृपा।

(२२९)

"पवित्र संसर्ग महानुभाव का
किसे न देता पद मूल्यवान है,
यथैव, गगा-गत नीर पूत है;
सरोज-पत्र-स्थित बुन्द रत्न-सा।

(२३०)

"प्रभो! कहा शीतल चंद्रमा गया,
तथैव है चंदन शैत्य-युक्त ही;
परन्तु, संसर्ग त्वदीय तो मुझे
स-शैत्य है चंदन-चंद्र से कही।

(२३१)

"त्वदीय संसर्ग मदीय बुद्धि का
प्रभो! हरे जाड्य[3], भरे सुविज्ञता,
तथैव आत्मोन्नति, पाप-हीनता,
प्रदान सत्कीर्ति करे अजस्र ही।

---

[1]छोड़कर, अतिरिक्त। [2]निष्कारण। [3]जड़ता, मूर्खता।

(२३२)

"प्रभो! तुम्हारी कल कीर्ति विश्व मे
कृशाश्वनी[1] के सम नाचती रहे;
त्रिलोक के प्रांगण-मध्य साधुता
निशेश-जोत्स्ना-सम राँचती रहे।

(२३३)

"प्रभो! तुम्हारी प्रतिभा-पवित्रता
वहे सभा मे सुर-सिंधुगा[2] समा,
प्रियव्रता-सी तव मोक्ष-अगना
अजस्र ही सन्निकटस्थिता रहे।

(२३४)

"प्रकाशती है तव बुद्धि सर्वंश,
वितान को तान रही सु-कीर्ति के;
तथैव वैदग्ध्य[3] बढ़ा रही सदा,
चढा रही श्वेत समुच्च व्योम मे।

(२३५)

"विनाशती है अघ-ओघ, हे प्रभो!
प्रकाशती उन्नति है चरित्र में;
पता नहीं है यह आपकी कथा
कि उच्च-संसर्ग-प्रभाव-शालिमा।"

---

[1]पतले शरीर की घोडी। [2]गगा नदी। [3]पाडित्य।

(२३६)

जिनेन्द्र की गौतम की महाशुभा
निगूढ़ वार्ता कुछ देर यों हुई
पुनश्च दोनों चुप हो गये, रुके
प्रभात-संस्तंभित-गांग - धार - से ।

(२३७)

दिनेश-आरुण्य दिगंत में लसा
विलोक मिथ्या-मत ऋक्ष से छिपे
उषा न आयी नभ में, धरित्रि मे
प्रभाव छाया जिन-धर्म-चक्र का ।

(२३८)

कुशेशयों[1]-से, युग चक्रवाक-से,
शिलीमुखों[2]-से, नभ-संगमादि-से,
स-साधु साध्वी-जनमोद-युक्त थे,
प्रहृष्ट थे श्रावक-श्राविका सभी ।

(२३९)

मुहूर्त में धर्म-प्रभात हो गया,
मिटी कि हिंसा-घनघोर-यामिनी,
उलूक-से पाप, जतूक[3]-से हुये
समस्त अस्तंगत अंतरिक्ष में ।

---

[1]कमल । [2]भ्रमर । [3]चमगादड़ ।

(२४०)

विबोधिता जीवन-सुप्रभात मे
जगी विहगावलि-सी सभी प्रजा,
चतुर्दिशा चारु निनाद यों उठा,
"जिनेन्द्र की जै, जय जैन-धर्म की।"

[शार्दूल विक्रीडित]

(२४१)

आया शाश्वत वार जो प्रथित[1] है हिंसा-निशा नाश मे,
सो वारेश उगा कि जो न अघ का है लेश भी छोडता,
प्राणी संसृति के समुत्थित चले, जो धर्म-पाथेय ले,
यात्रा जीवन की सभी कर रहे आ-बाल-वृद्धावला[2]।

(२४२)

ऐसा मार्ग प्रशस्त है, न जिसमे है भ्रान्ति-शंका कही,
छायी अंबर-मध्य जैन-मत की आनन्द-कादम्बिनी[3]।
देती सौख्य वसन्त के पवन-सी सामायिकी-साधना,
काम-क्रोध-मदादि-कंटक विना सन्मार्ग है धर्म का।

(२४३)

भव्यो ! है यह मेदिनी शिविर-सी जाना पड़ेगा कभी,
आगे का पथ ज्ञात है न, इससे सद्बुद्धि आये न क्यों?
ले लो साधन धर्म के, न तुमको व्यापे व्यथा अन्यथा,
है जैनेन्द्र-पदारविन्द-तरणी संसार-पाथोधि की।

—समाप्त—

[1]प्रसिद्ध। [2]स्त्री। [3]मेघ-माला।

[सन् १९५१ में हमारे नये प्रकाशन]

१. मेरे बापू

श्री हुकुमचन्द्र 'बुखारिया'

डॉ० रामकुमार वर्मा—

'मेरे बापू' मे युगपुरुषको कविकी श्रद्धाञ्जलि समर्पित हुई है। इस श्रद्धाञ्जलिमे कविकी अनुभूति और कल्पनाके ऐसे प्रसून हैं जिनकी सुगन्धि निरन्तर पूजाकी पवित्रता लिए रहेगी। बापूका व्यक्तित्व ही काव्यका सहज विषय है। कवित्वके इस जागरणमे कविकी लेखनी सदेश-वाहिका बन गई है। ये सदेश शताब्दियों तक गूंजते रहेगें। मै कविके कंठमे अपना स्वर मिलाकर कह सकता हूँ :—

'एक बार धरती गूंजेगी ही फिर उसके अमर श्वास से'

मूल्य ढाई रुपए

२. पंच-प्रदीप

श्री शान्ति एम० ए०

आमुख लेखक सुमित्रानन्दन पन्त लिखते है :—शांतिजीका कवि-हृदय, संस्कारतः एक स्वच्छ सुथरे कक्षके भीतर प्रतिष्ठित है, जहाँसे उनका सहज बोध भावनाके उत्थान-पतनो, सुख-दुःखके मधुर-तिक्त संवेदनों तथा वाह्य जगत्के आघातो और विक्षोभोको एक स्वस्थ सयमन तथा आगे बढनेकी प्रेरणा प्रदान करता रहता है। कही भी कवयित्रीकी समर्थ भावना ऊबड-खाबड़ धरतीकी ठोकर खाकर परास्त होती नही प्रतीत होती, और न वह भावोच्छ्वास मात्र बनकर वाष्पकी तरह हवामें उड़ती दिखाई देती है।

कवयित्रीकी भाषामें स्वाभाविकता, सजीवता, मधुर प्रवाह तथा शक्तिका सन्तुलित सौष्ठव है। वह अपने काव्य-निर्माणमें बच्चन तथा महादेवी जीकी झंकारोको आत्मसात् कर उन्हे नवीन रूप प्रदान कर देती है।

मुझे विश्वास है 'पंच-प्रदीप' की शिखा भी उत्तरोत्तर उन्नत होकर उस गौरवको वहन करनेमें समर्थ होगी।"

मूल्य दो रु०

३. वर्द्धमान

[महाकाव्य]

जनताकी सदियोसे उत्कट अभिलाषा थी कि भगवान् महावीरके जीवनचरित्रकी ऐसी मर्मस्पर्शी कविताएँ हो जिन्हें पढकर लोग आत्म-विभोर हो उठे। उसी वर्षोकी साधको सिद्धार्थके यशस्वी ख्याति प्राप्त कवि श्री अनूपशर्माने यह महाकाव्य लिखकर अभिनन्दनीय कार्य किया है।

मूल्य छः रु०

४. गहरे पानी पैठ

[सूक्तिरूपमें मर्मस्पर्शी ११३ कहानियाँ]

अयोध्याप्रसाद गोयलीय

गुरुजनोके चरणोमे बैठकर जो सुना.
इतिहास और धर्मग्रन्थोमें जो पढ़ा.
और हियेकी आँखोसे जो देखा.

मूल्य ढाई रुपए

५. ज्ञानगंगा

[संसारके महान साधकोकी सूक्तियोंका अक्षय भण्डार]

श्री नारायणप्रसाद जैन

इन सूक्तियोको पढकर पता चलता है कि मनुष्यके जागरित मनमे पृथ्वीके विभिन्न खण्डोमे रहकर अनन्त युगोतक जीवनसे जूझकर और जीवनको अपनाकर अपने अनुभव द्वारा सत्यको किस प्रकार प्राप्त किया है और उसे किस अमर वाणीमे व्यक्त किया है। ज्ञानकी यह कितनी बडी करामात है कि वह मानव-मात्रमें भेद ही उत्पन्न नही करता, जीवनकी मौलिक एकताका आधार साक्षर-वाणीमे व्यक्त करता है और इतिहासके पृष्ठोपर अमरत्वकी छाप लगा देता है।

मूल्य छः रु०

६. भारतीय विचारधारा

श्री मधुकर

प्रस्तुत पुस्तकमें लेखकने भारतीय दर्शनको ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टिकोणसे उपस्थित करके सर्वसाधारणके लिए सुलभ बना सकनेका सराहनीय कार्य किया है। वेद, उपनिषद्, चार्वाक्, गीता, जैन और बौद्ध विचारधाराएँ, न्यायवैशेषिक, सांख्य-योग, पूर्व मीमांसा और वेदान्त के सभी दार्शनिक अंगोकी सागोपांग वैज्ञानिक विवेचना की गई है।

पादटिप्पणीमें दिये गये मूल सस्कृत उद्धरणोसे पुस्तककी उपादेयता और बढ गई है। भारतीय सस्कृतिको स्वस्थ दृष्टिकोणसे समझनेके लिए यह पुस्तक बहुत आवश्यक है।

मूल्य दो रु०

७. महापुराण [आदिपुराण]

[भाग १]

भगवज्जिनसेनाचार्यकृत युगादि पुरुष भगवान् ऋषभदेवका पुण्य चरित्र।

इस पुराणमें न केवल चरित्र ही है किन्तु जैनाचार, जैनसस्कार आदिका साङ्गोपाङ्ग विस्तृत विवेचन है। अनेक ताडपत्रीय प्रतियोके आधारसे इसका संशोधन और सम्पादन साहित्याचार्य पन्नालालजीने किया है।

पृष्ठ सख्या ७१२ बड़ा साइज

मूल्य दस रु०

८. समयसार [अंग्रेजी]

भगवान् कुन्दकुन्दके सुप्रसिद्ध अध्यात्म ग्रंथ समयसारका अंग्रेजी भाषामे प्रामाणिक अनुवाद। विस्तृत व्याख्या महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना सं०—रावबहादुर ए० चक्रवर्ती, मद्रास।

मूल्य आठ रु०

१९५० के हमारे प्रकाशन

९. मिलनयामिनी

[श्री बच्चनजी की नवीनतम कृति]

आल इण्डिया रेडियो—

"मिलनयामिनी" रस रागिनी है। यह हमारे मनके तारोको मायाकी उगलियोमे वजाती है और जीवनके एकान्त क्षणोकी उदासी दूर कर जाती है। मूल्य चार रु०

१०. वैदिक साहित्य

आमुख लेखक

मानतीय सम्पूर्णानन्दजी, शिक्षामंत्री उत्तर प्रदेशराज्य

इसके लेखक वैदिक साहित्यके प्रकाण्ड विद्वान् और परम्परागत धर्मशास्त्र, पुराण और भारतीय दर्शनोके प्रसिद्ध अध्येता श्री पण्डित रामगोविंद त्रिवेदी वेदान्त शास्त्री है।

वैदिक साहित्यका इतना सरल सागोपाग परिचय हिन्दी तो क्या सम्भवत भारतकी अन्य भाषाओमे भी उपलब्ध नही है। पुस्तकके लगभग ५०० पृष्ठोमें अवतक प्राप्त ११ सहिताओ, १८ ब्राह्मण ग्रथो, ९ आरण्यायिको और २२० उपनिषदोकी मूल ज्ञानराशि और उनके सम्बन्धमें अन्य ज्ञातव्य वातोको भी त्रिवेदीजीने सार रूपमें रख दिया है।

मूल्य छः रु०

११. जैन शासन [द्वितीय संस्करण]

पं० सुमेरुचन्दजी दिवाकर, न्यायतीर्थ

आचार्य विनोबा भावे—

"किताब बहुत मेहनतसे लिखी है। जैनधर्मके बारेमें काफी जानकारी उससेसे मिल जाती है। जैन विचार निःसंशय प्राचीन कालसे है क्योकि "अर्हन् इद दयसे विश्वमवम्" इत्यादि वेदवचनोमे वह पाया जाता है।"

मैथिलीशरण गुप्त—

"जैन शासन" लिखकर आपने अपने धर्म और साहित्यकी अच्छी सेवा की है। मूल्य तीन रु०

संशोधित और परिवर्द्धित द्वितीय संस्करण अक्तूबर '५०में प्रकाशित

१२. शेर-ओ-शायरी

[उर्दूके सर्वोत्तम अशआर और नज़्में]

लेखक—अयोध्याप्रसाद गोयलीय

प्रस्तावना लेखक महापण्डित राहुलजी लिखते हैं—

"शेरोशायरी" के छ. सौ पृष्ठोमे गोयलीयजीने उर्दू-कविताके विकास और उसके चोटीके कवियोका काव्य-परिचय दिया है। यह एक कविहृदय साहित्य-पारखीके आधे जीवनके परिश्रम और साधनाका फल है। हिन्दीको ऐसे ग्रन्थोकी कितनी आवश्यकता है, इसे कहनेकी आवश्यकता नही।

उर्दू-कवितासे प्रथम परिचय प्राप्त करनेवालोके लिए इन बातोका जानना अत्यावश्यक है। गोयलीयजी जैसे उर्दू-कविताके मर्मज्ञका ही यह काम था, जो कि इतने संक्षेपमे उन्होने उर्दू "छन्द और कविताका" चतुर्मुखीन परिचय कराया।

गोयलीयजीके सग्रहकी पक्ति-पक्तिसे उनकी अन्तर्दृष्टि और गम्भीर अध्ययनका परिचय मिलता है। मै तो समझता हूँ, इस विषयपर ऐसा ग्रन्थ वही लिख सकते थे।

मूल्य आठ रु०

१३. मुक्तिदूत [द्वितीय संस्करण]

श्री वीरेन्द्रकुमार एम० ए०

"कथा अत्यन्त करुण है। लिखा भी उसे उतनी ही आस्था और आर्द्रतासे गया है। इसकी भाषा और वर्णनका वैभव मुग्ध कर देता है। इतना सचित्र और मनोरम वर्णन हिन्दीमे मैने अन्यत्र देखा है, ऐसा याद नही पड़ता। मोतियोकी लडीसे वाक्य जहाँ-तहाँ मिलते है। मन उनकी मोहकता और कोमलतापर गल-सा आता है। प्रसादजीके बाद यह शोभा और श्री, गद्यमे मैने वीरेन्द्रमे ही पाई। मृदुता और ऋजुता बल्कि चाहे कुछ विशेष ही हो।"

—जैनेन्द्रकुमार

मूल्य पाँच रु०

१४. केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि

सम्पादक—नेमिचन्द्र जैन, ज्योतिषाचार्य

प्रश्नशास्त्रका अद्‌भुत् ग्रन्थ, हिन्दी विवेचन, मुहूर्त, कुण्डली, शकुन आदिके हिन्दी परिशिष्टोमे विभूषित।

प्रस्तुत ग्रन्थमें भारतके सभी चन्द्रोन्मीलन, केरल, प्रश्नकुतूहल आदि प्रश्नशास्त्रोके तुलनात्मक विवेचनके साथ ही साथ ४० पृष्ठोकी भूमिकामे जैन ज्योतिषकी विशेषता समझाई गई है। सामान्य पाठक भी इसके द्वारा अपने भावी इष्टानिष्टका परिज्ञान कर सकता है।

मूल्य चार रुपए

१५. नाममाला [संस्कृत]

सम्पादक—पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी, सप्ततीर्थ

महाकवि धनञ्जय कृत नाममाला और अनेकार्थनाममालाका अमरकीर्तिकृत भाष्यसहित सुन्दर सस्करण। साथमें अनेकार्थनिघण्टु तथा एकाक्षरी कोश भी सम्मिलित है।

प्रत्येक शब्दकी सप्रमाण व्युत्पत्ति देखिए।

मूल्य साढ़े तीन रुपए

१६. सभाष्यरत्नमञ्जूषा [संस्कृत]

सूत्रशैलीमें लिखा गया एकमात्र जैन छन्दशास्त्रका ग्रथ।

सम्पादक—छन्दशास्त्रके मर्मज्ञ, प्रो० एच०डी० वेलणकर, मुम्बई।

मूल्य दो रुपए

हमारे अन्य सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

[हिन्दी ग्रंथ]

१७.	दो हजार वर्ष पुरानी कहानियाँ—डा० जगदीशचन्द्र जैन एम० ए०	३)
१८	आधुनिक जैन कवि—श्रीमती रमारानी जैन	३।।)
१९.	हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास—श्री कामताप्रसाद जैन	२।।=)
२०.	कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न—(अध्यात्म विषयका अमूल्य ग्रंथ)	२)

[संस्कृत ग्रंथ]

२१.	मदनपराजय—[हिन्दीसार और प्रस्तावना सहित]	८)
२२	तत्त्वार्थवृत्ति—[हिन्दीसार और विस्तृत प्रस्तावना सहित]	१६)
२३	न्यायविनिश्चयविवरण [भाग १]—[विस्तृत हिन्दी प्रस्तावनाके साथ]	१५)
२४.	कन्नड़ प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रंथ सूची	१३)

[प्राकृत ग्रंथ]

२५	महाबन्ध [भाग १]—[हिन्दी अनुवाद सहित]	१२)
२६.	करलक्खण—[सामुद्रिक शास्त्र]	१)

यू० पी० सरकारसे १००० रु० से पुरस्कृत

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदीकी अमर कृति

२७. पथचिह्न

इसमें लेखकने अपनी स्वर्गीया बहिनके दिव्य संस्मरण लिखे हैं, साथ ही साथ साहित्यिक, राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक समस्याओंका वर्णन भी किया है। इसकी भाषा और शैली हृदयको बरबस छू लेती है।

मूल्य दो रुपए

भारतीय ज्ञान पीठ काशी, दुर्गा कुण्ड रोड, बनारस

ज्ञानपीठ जिस निष्पक्षभावसे प्रकाशन-कार्य कर रहा है उसकी जितनी प्रशसा की जाय थोडी है। आपके ग्रन्थोसे किसी भी सग्रह की शोभा वढेगी। इतना ही नही, मेरी सम्मति में वे पुस्तकालयोके लिए आवश्यक भी होगे।

—मैथिलीशरण गुप्त

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि यह ज्ञानपीठ इन तीनो कार्यों (प्राचीन ग्रन्थ सम्पादन, सकलन, लोकोदयकारी नूतन निर्माण) को समान श्रद्धाके साथ करना चाहता है।

—आनन्द कौसल्यायन

इस सस्थाके उद्देश्य बहुत उदार है। मेरा सद्भाग्य है कि मै अपने जीवनमें ही अपनी इच्छाके अनुरूप इस सस्थाका उदय देख सका।

—नाथूराम प्रेमी

पुस्तकोकी छपाई अतीव सुन्दर, स्वच्छ और शुद्ध है। अन्तरग और वहिरग तन-मन-नयनके लिए आनन्दप्रद और शान्तिदायक है।

—शिवपूजनसहाय

आपकी आयोजनासे मुझे पूर्ण सहानुभूति है।

—बच्चन

सभी पुस्तके महत्त्वपूर्ण है। ज्ञानपीठ साहित्यकी वडी सेवा कर रहा है।

—अमरनाथ झा

पुस्तकोकी छपाई सफाईके विषयमें कहना ही क्या है। वहुत ही सुन्दर है। यहाँ तक कि मेरे जैसे सुसस्कृत कहलानेवाले व्यक्तिको भी ईर्ष्या हो सकती है कि मेरे ग्रन्थ भी इतने ही अच्छे क्यो न छपें। आज-कलके जमानेमे जब कागजकी इतनी कमी है, ऐसे सुन्दर प्रकाशनको नजर लग सकती है।

—वनारसीदास चतुर्वेदी